हिन्दी त्रैमासिक

विवेक-ज्योति

वर्ष ३४ अंक २

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म.प्र.)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित
हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल-मई-जून
★ १९९६ ★

प्रबन्ध संपादक तथा व्यवस्थापक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक २०/- वर्ष ३४ अंक २ एक प्रति ६/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ३००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (म.प्र.)
दूरभाष : २५२६९, २४५९, २४११९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(१०७ वीं तालिका)

३८३७. श्री सत्यनारायण ओझा, इचलकरंजी, कोल्हापुर (महा.)
३८३८. श्री गुलाबचन्द मदनदेवी, नयापारा, रायपुर (म.प्र.)
३८३९. श्री देवेन्द्र कुमार देवांगन, तुलसीपुर, राजनांदगाँव (म.प्र.)
३८४०. श्री मनीष शर्मा, नई दिल्ली
३८४१. श्री डमरूधर रावत, कलकत्ता (प.बं.)
३८४२. श्री अशोक शर्मा, इन्दौर (म.प्र.)
३८४३. श्री अजय अग्रवाल, नई दिल्ली
३८४४. श्री गोवर्धन केजरीवाल, सम्भलपुर, (उड़ीसा)
३८४५. श्री पी. बी. साहू, केलाबाड़ी, दुर्ग (म.प्र.)
३८४६. श्री संजय निगम, धार (म.प्र.)
३८४७. कुमारी सोमा जाजू, बरोड़ा (गुज.)
३८४८. श्री आर. जी. एस. गौतम, कटघोरा, बिलासपुर (म.प्र.)
३८४९. श्री ओ. पी. पालीवाल, कोटा (राज.)
३८५०. श्री दुर्गा सिंह, सोढ़ा, बारमेर (राज.)
३८५१. श्रीमती शीला टण्डन, शक्तिनगर, भोपाल (म.प्र.)
३८५२. स्वामी विवेकानन्द लाइब्रेरी, भोपाल (म.प्र.)
३८५३. श्री जीवन कुमार असवानी, भोपाल (म.प्र.)
३८५४. श्री आर. के. मिश्रा, बालाघाट (म.प्र.)
३८५५. श्री विनय कुमार जैन, डोंगरगढ़, राजनांदगाँव (म.प्र.)
३८५६. श्री पवन कुमार शर्मा, मुरैना (म.प्र.)
३८५७. श्री जुगल किशोर जी सराफ, मुम्बई (महा.)
३८५८. श्री जयन्त तापड़िया, गाजियाबाद (उ.प्र.)
३८५९. श्री आर. पी. सेन, भिलाई, दुर्ग (म.प्र.)
३८६०. श्री वी. डी. अधिकारी, गौतमनगर, भोपाल (म.प्र.)
३८६१. श्री बी. एन. कटारिया, राजकोट (गुज.)
३८६२. श्री अनिल गुप्ता, गऊघाट चौक, हरिद्वार (म.प्र.)
३८६३. श्री सुबोध कुमार चतुर्वेदी, भिलाई, दुर्ग (म.प्र.)
३८६४. श्री एल. सी. पाण्डेय, पाटन (गुज.)
३८६५. श्री सुरेश कुमार दुबे, डंगनिया, रायपुर (म.प्र.)
३८६६. श्रीमती आरती सुरेश पण्डित, बलसड़ (गुज.)
३८६७. श्रीमती शकुन सोलंकी, इन्दौर (म.प्र.)

३८६८. श्री अंशुमन चौहान, गोंदिया (म.प्र.)
३८६९. श्री आशा के. वैष्णव, गोंदिया (म.प्र.)
३८७०. श्रीमती मालती देवी, नौगाँव, छतरपुर (म.प्र.)
३८७१. श्री सत्यनारायण पाण्डेय, जगदलपुर, बस्तर (म.प्र.)
३८७२. डॉ. मृदुला शुक्ला, बलौदाबाजार, रायपुर (म.प्र.)
३८७३. डॉ. ममता शुक्ला, नेहरूनगर, भिलाई, दुर्ग (म.प्र.)
३८७४. श्रीमती प्रभा डागा, कलकत्ता (प.बं.)
३८७५. श्री विनोद कुमार अग्रवाल, सम्बलपुर (उड़ीसा)
३८७६. श्री एस. पी. सिंह, बैरनबाजार, रायपुर (म.प्र.)
३८७७. श्री रवीन्द्रनाथ एम. हालदार, चन्द्रपुर (महा.)
३८७८. श्री जितेन्द्र कुमार तिवारी, कोरबा, बिलासपुर (म.प्र.)
३८७९. श्री विनय शुक्ला, अभनपुर, रायपुर (म.प्र.)
३८८०. श्री अमृत. टी. मेहता, नागपुर (महा.)
३८८१. श्री के. एम. आडवानी, अमरावती (महा.)
३८८२. श्री अजय खन्ना, सिविल लाइन्स, बरेली (उ.प्र.)
३८८३. श्री शिवांश तिवारी, आजाद चौक, रायपुर (म.प्र.)
३८८४. श्री नवीन कुमार निगम, भिलाई, दुर्ग (म.प्र.)
३८८५. श्री फोदन कुमार राजपूत, उमरिया, बिलासपुर (म.प्र.)
३८८६. श्री देवेन्द्र कुमार साहू, राजनांदगांव (म.प्र.)
३८८७. रामकृष्ण मिशन, शिलांग (मेघालय)
३८८८. श्री वल्लभदास, रामदासपेठ, नागपुर (महा.)
३८८९. श्रीमती उषा गोरसिया, कलकत्ता (प.बं.)
३८९०. श्री सिद्धेश्वर आश्रम, अडोली, अकोला (महा.)
३८९१. श्री ए. पी. सिंह, मुकुन्दपुर, सतना (म.प्र.)
३८९२. श्री नरोत्तम शर्मा, फतेहपुर, सीकर (राज.)
३८९३. श्रीमती दिनेश कुमारी मिश्रा, नई दिल्ली
३८९४. श्री हरिशंकर राय, सालेचौका रोड, नरसिंहपुर (म.प्र.)
३८९५. श्री एस. के. दुबे, भोपाल (म.प्र.)
३८९६. श्री एस. के. तिवारी, समता कालोनी, रायपुर (म.प्र.)
३८९७. श्री ठाकुर सोनेश्वर प्रसाद सिंह, कोटगाँव, रायपुर (म.प्र.)
३८९८. श्री संजय कुमार पाण्डे, वर्धा (महा.)
३८९९. श्री भगवानदास चटवानी, कोटा (राज.)
३९००. श्री दीनानाथ चतुर्वेदी, समदहा, बस्ती (उ.प्र.)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा.लि., बजरंगनगर, रायपुर, फोन : २६६०३

कम्पोजिंग : अल्फा लेज़र स्पॉट, गीतानगर, रायपुर, फोन : २३५७७

जीवन की धन्यता

धन्यानां गिरिकन्दरेषु वसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुकणान् पिबन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
क्रीड़ाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते।।

अन्वयार्थ – गिरि-कन्दरेषु (पर्वत की गुहा में) वसतां (निवासी) परं ज्योतिः (ज्योतिस्वरूप परब्रह्म) ध्यायतां (का ध्यान करनेवाले) धन्यानां (पुण्यात्मा पुरुषों की) अङ्केशयाः (गोद में बैठे) शकुनाः (पक्षीगण) आनन्द-अश्रु-कणान् (उनके नेत्रों से निकलनेवाले प्रेमाश्रुओं के कण) निःशंङ्क (निर्भय होकर) पिबन्ति (पान करते हैं) तु (परन्तु) मनोरथ (कल्पना द्वारा) उपरचित (निर्मित) प्रासाद (भवन) वापी (तालाब) तट (के किनारे स्थित) क्रीड़ा-कानन (उद्यान में) केलि (विहार) कौतुक (आनन्द में) जुषाम् (उत्सुक) अस्माकं (हमारी) आयुः (आयु) परं (केवल) क्षीयते (वृथा क्षय हो रही है)।

अर्थ — धन्य हैं वे लोग, जो निर्जन पर्वत की कन्दराओं में बैठकर परम ज्योतिरूप ब्रह्म का ध्यान करते हैं, पक्षी जिनकी गोद में निर्भय बैठकर उनके आनन्दाश्रु का पान करते रहते हैं; परन्तु हमारा जीवन तो केवल कल्पनालोक में ही रचित अट्टालिकाओं या जलाशय के तट पर स्थित क्रीड़ा-कानन में विहार करते हुए ही बीत रहा है।

— भर्तृहरिकृत वैराग्यशकतम्, १४

विवेकानन्द - वन्दना

स्वामी विवेकानन्द को शत शत नमन है,
जिनसे सजा इस देश का उजड़ा चमन है।

यह देश भारतवर्ष जब सोया हुआ था,
भ्रम और गफलत में पड़ा खोया हुआ था;
सब भूलकर सद्भाव का गौरव पुराना,
जो बीज हममें फूट का बोया हुआ था;
वेदान्त का व्यवहार समझाकर सहज ही,
हममें जगायी देशसेवा की लगन है।।

है श्रेष्ठ जग में सांस्कृतिक वैभव हमारा,
फिर भी पड़ा था देश अपना बेसहारा;
करने लगे थे हम नकल पाश्चात्य जन का,
तब जा शिकागो में बहायी ज्ञानधारा;
सबमें हुआ यह बोध जाग्रत एक पल में,
भारत की प्रज्ञा विश्व का अनुपम रतन है।।

जो पथ दिखाया हम उसी पर चल रहे हैं,
हर क्षेत्र में वे ही सदा संबल रहे हैं;
उत्साह-बल से है भरा अन्तर हमारा,
वे मंत्र जागृति के नहीं निष्फल रहे हैं;
भावी जगत् की सभ्यता निर्माण करने,
सप्तर्षि-मण्डल से हुआ यह आगमन है।।

जितेन्द्र कुमार तिवारी
रंभादेवी कुंज, पुरानी बस्ती, कोरबा (म.प्र.)

अग्नि-मंत्र

(राजा प्यारीमोहन मुकर्जी को लिखित)

न्यूयार्क,
१८ नवम्बर, १८९४

प्रिय महाशय,

कलकत्ता टाउन हॉल की सभा में हाल ही में जो प्रस्ताव स्वीकृत हुए तथा मेरे अपने नगरवासियों ने जिन मधुर शब्दों में मुझे याद किया है, उन्हें मैंने पढ़ा।

महाशय, मेरी तुच्छ-सी सेवा के लिए आपने जो आदर प्रकट किया है, उसके लिए आप मेरा हार्दिक धन्यवाद स्वीकार कीजिए।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि कोई भी मनुष्य या राष्ट्र अपने को दूसरों से अलग रखकर जी नहीं सकता, और जब कभी भी गौरव, नीति या पवित्रता की भ्रान्त धारणा से ऐसा प्रयत्न किया गया है, उसका परिणाम उस पृथक् होने वाले पक्ष के लिए सदैव घातक सिद्ध हुआ।

मेरी समझ में भारतवर्ष के पतन और अवनति का एक प्रधान कारण जाति के चारों ओर रीति-रिवाजों की एक दीवार खड़ी कर देना ही था, जिसकी भित्ति दूसरों से घृणा पर स्थापित थी और जिसका यथार्थ उद्देश्य प्राचीन काल में हिन्दू जाति को आसपास वाली बौद्ध जातियों के संसर्ग से अलग रखना था।

प्राचीन या नवीन का तर्कजाल इसे चाहे जिस तरह ढाँकने का प्रयत्न करें, पर इसका अनिवार्य फल — उस नैतिक साधारण नियम के औचित्य के अनुसार कि कोई भी बिना अपने को अधःपतित किये दूसरों से घृणा नहीं कर सकता — यह हुआ कि जो जाति सभी प्राचीन जातियों में सर्वश्रेष्ठ थी, उसका नाम पृथ्वी की जातियों में सामान्य घृणासूचक शब्द सा हो गया है। हम उस सार्वभौमिक नियम की अवहेलना के परिणाम के प्रत्यक्ष दृष्टान्तस्वरूप हो गये हैं, जिसका हमारे ही पूर्वजों ने पहले-पहल आविष्कार और विवेचन किया था।

लेन-देन ही संसार का नियम है और यदि भारत फिर से उठना चाहे, तो

यह परमावश्यक है कि वह अपने रत्नों को बाहर लाकर पृथ्वी की जातियों में बिखेर दे और इसके बदले वे जो कुछ दे सकें, उसे सहर्ष ग्रहण करे। विस्तार ही जीवन है और संकीर्णता ही मृत्यु; प्रेम ही जीवन है और द्वेष ही मृत्यु। हमने उसी दिन से मरना शुरू कर दिया, जब हम अन्य जातियों से घृणा करने लगे और यह मृत्यु बिना इसके किसी दूसरे उपाय से रुक नहीं सकती कि हम फिर से विस्तार को अपनायें, जो कि जीवन का चिह्न है।

अतएव हमें पृथ्वी की सभी जातियों से मिलना पड़ेगा। और प्रत्येक हिन्दू जो विदेश भ्रमण करने जाता है, उसे सैकड़ों मनुष्यों से अपने देश को अधिक लाभ पहुँचाता है, जो केवल अन्धविश्वासों एवं स्वार्थपरताओं की गठरी मात्र है, और जिनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य 'न खुद खाये, न दूसरे को खाने दे' — कहावत के अनुसार न अपना हित करना है, न पराये का। पाश्चात्य राष्ट्रों ने राष्ट्रीय जीवन के जो आश्चर्यजनक प्रासाद बनाये हैं, वे चरित्ररूपी सुदृढ़ स्तम्भों पर खड़े हैं, और जब तक हम अधिक से अधिक संख्या में वैसे चरित्र न गढ़ सकें, तब तक हमारे लिए किसी शक्तिविशेष के विरुद्ध अपना असन्तोष प्रकट करते रहना निरर्थक है।

क्या वे लोग स्वाधीनता पाने के योग्य हैं, जो दूसरों को स्वाधीनता देने के लिए प्रस्तुत नहीं? व्यर्थ का असन्तोष जताते हुए शक्तिक्षय करने के बदले हम चुपचाप वीरता के साथ काम करते चले जायँ। मेरा तो पूर्ण विश्वास है कि संसार की कोई भी शक्ति किसी को उस वस्तु से वंचित नहीं रख सकती, जिसके लिए उसमें वास्तविक योग्यता हो। अतीत तो हमारा गौरवमय था ही, पर मेरा हार्दिक विश्वास है कि भविष्य और भी गौरवमय होगा।

शंकर हमें पवित्रता, धैर्य और अध्यवसाय में अविचलित रखें।

भवदीय,

विवेकानन्द

चिन्तन-२५

वहम की बीमारी

स्वामी आत्मानन्द

मेरे एक परिचित हैं। वे जब अपने कमरे में ताला लगाकर बाहर निकलते हैं, तो ३-४ बार लौटकर ताले के पास आते हैं, उसे झटका देकर देखते हैं कि कहीं वह खुला तो नहीं रह गया है। फिर भी वे आश्वस्त नहीं हो पाते। उन्हें आशंका लगी ही रहती है कि कहीं उन्होंने ताले को खुला तो नहीं छोड़ दिया है। जब घर के अन्दर होते हैं, तो कई बार जाकर देख आते हैं कि उन्होंने कुण्डी ठीक से चढ़ा दी है या नहीं। एक दूसरे सज्जन हैं, जो चिट्ठी डालकर ३-४ बार झुककर देखते हैं कि चिट्ठी सही सही डाल दी है न। फिर कुछ दूर आकर पुनः लौटकर डिब्बे के पास जाते हैं – यह देखने के लिए कि चिट्ठी डिब्बे के बाहर तो नहीं गिर पड़ी। एक तीसरे हैं जो कहीं बाहर जाते समय बार बार अपना पर्स खोलकर देखते हैं कि उन्होंने अपनी टिकट रख ली है न। ये तीनों व्यक्ति वहम के शिकार हैं। कुछ ऐसे होते हैं कि यदि पैर के नीचे मल आ जाय, तो बारम्बार पैर को धोकर भी उन्हें समाधान नहीं होता, उन्हें लगता है पैर अभी भी गन्दा है।

मेरा एक सहपाठी था। एक दिन परीक्षा देने के लिए जाते समय पता नहीं कैसे उसकी पेन की कैप निकल गयी और उसकी जेब पर पेन की निब ने स्याही का बड़ा-सा धब्बा लगा दिया। पहले तो उसे बड़ा दुःख हुआ कि उसकी कमीज खराब हो गयी, पर परचा देकर बाहर निकलने पर मैंने उसे बड़ा खुश देखा। उसने बताया कि उसका परचा बढ़िया बना है। अब उसे कैप का खुलना खराब नहीं लग रहा था, उल्टे वह कह रहा था कि कैप का खुलना उसके लिए शुभ साबित हुआ। इसके बाद से उसकी प्रतिदिन यह कोशिश रहती कि परीक्षा के लिए जाते समय किसी प्रकार उसकी पैन की कैप खुल जाय। वह पेन की कैप को ढीला ही रखता और रास्ते में न खुलने पर वह उँगली से झटका देकर उसे खोलने की चेष्टा करता।

ये सारे उदाहरण वहम के हैं। यह मनोविज्ञान की दृष्टि से एक भयानक

मानसिक रोग है। हममें से हर व्यक्ति इसका न्यूनाधिक मात्रा में शिकार हैं। एक सज्जन हैं, जो रोज ११ बार हनुमान चालीसा का पाठ करते हैं। यदि किसी दिन पाठ की संख्या में किसी कारणवश कमी हो गयी, तो उन्हें लगता है कि उन पर विपत्ति आ जायगी। कोई यदि प्रतिदिन के नियमानुसार मन्दिर नहीं जा सका, तो सारे दिन उसे किसी अनिष्ट की आशंका बनी रहती है।

फिर लोगों को संख्या को लेकर वहम हुआ करता है। यदि किसी परीक्षार्थी को ऐसा रोल नम्बर मिला, जिसके अंकों का योग विषम हो, तो उसे फेल होने का डर सताने लगता है। एक अंगरेज १३ की संख्या से घबड़ाता है।

वहम के ऐसे असंख्य उदाहरण दिये जा सकते हैं। इसके जाने कितने ही रंग होते हैं और कितने ही रूप। पर कोई भी वहम ऐसा नहीं है, जो दूर न हो सके। वहम का कारण है मन की कमजोरी, इसलिए इसे दूर करने का उपाय है मन को बलवान और सशक्त बनाना। मन को थोड़ा सा दृढ़ बनाकर वहम से छुटकारा पाया जा सकता है। मन की इस प्रारम्भिक दृढ़ता को प्राप्त करने के लिए किसी ऐसे मित्र का साथ उपयोगी होता है, जिसका मन बली है। जैसे, जिसे ताला के बन्द न होने का वहम है, वह एक बार ताला को बन्द कर देने पर उसके पास जाए ही नहीं। मित्र उसे न जाने दे। डिब्बे में चिट्ठी डालनेवाला एक बार चिट्ठी डालकर उधर देखे ही नहीं। जिस संख्या का किसी को वहम है, वह किसी संख्या का उपयोग जान-बूझकर बार बार करे। तात्पर्य यह है कि जिसे जिस बात का वहम है, उसका ठीक उल्टा वह जान-बूझकर करे। मात्र कुछ ही महीने का ऐसा अभ्यास उसे इस भयानक मनोरोग से छुटकारा दिला देगा। यह अभ्यास उसकी मानसिक स्वस्थता को लौटा लाएगा और मन को दृढ़ता प्रदान करेगा। वहम एक साध्य रोग है। आवश्यकता है एक स्वस्थ और सबल मन वाले मित्र की, जो प्रारम्भिक दिनों में रोगी के साथ रहकर उसकी सहायता कर सके।

□

श्रीरामकृष्ण - वचनामृत - प्रसंग

(तिरपनवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्द रामकृष्ण मठ-मिशन बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ तथा बाद में रामकृष्ण योगोद्यान, काकुड़गाछी, कलकत्ता में श्रीरामकृष्ण कथामृत पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय द्वारा छह भागों में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता को देखते हुए हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। इसके हिन्दी रूपान्तरकार श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। - सं।)

साधना-वृत्तान्त

ठाकुर को पहले कैसा तीव्र वैराग्य, भगवान के लिए कैसी तीव्र व्याकुलता हुआ करती थी, इस विषय में वे बीच बीच में भक्तों को बताया करते थे। उनका इस तरह से बताने का उद्देश्य होता, भक्तों के अन्तःकरण में भी वैसी ही व्याकुलता और तीव्र वैराग्य को जगाना। ये सब संक्रामक भाव हैं तथा एक व्यक्ति के प्रभाव से दूसरे के भीतर जो वृत्ति सुप्त पड़ी है, वह जाग उठती है। इसीलिए ठाकुर भक्तों को अपने पहले की अवस्थाओं का वृत्तान्त सुनाते थे। भक्तों के अन्तःकरण में तीव्र वैराग्य और व्याकुलता जगाने के लिए वे प्रयास करते। ईश्वरीय चर्चा के सिवा उनके पास दूसरी कोई बात ही न थी। कभी कोई अन्य प्रसंग उठने पर भी उसकी समाप्ति ईश्वरीय प्रसंग में ही होती। ठाकुर चाहे थियेटर गये हों, या सर्कस देखने अथवा अन्यत्र कहीं, पर जब कभी उसके सम्बन्ध में बात उठती, तो वे वहीं से दृष्टान्त देकर समझा देते कि मनुष्य किस प्रकार भगवन्मुखी हो सकता है। एशियाटिक सोसायटी गये, तो वहाँ उन्होंने मनुष्य का कंकाल देखा। वैराग्य का भाव जगाने के लिए भक्तों से बोले – देह की यही अवस्था है, यह चटक-मटक बस दो दिन के लिए है। इसी तरह वे सबको भगवच्चिन्तन में लगा देते।

ठाकुर जब अपने बारे में बताते है, तो स्मरण रखना होगा कि यह सब वे अपने गुण-कीर्तन के लिए नहीं करते; अपितु इसलिये कि उनके भीतर जो प्रेरणादायिनी शक्ति है, उसका लाभ भक्तगण पा सकें, इसीलिए वे बताते हैं।

ठाकुर के हृदय में ईश्वर के लिए जो व्याकुलता हुई थी, उसका वे वर्णन करते हैं। उन दिनों वे पछाड़ खाकर धरती पर गिर पड़ते तथा इस प्रकार सिर पटकने लगते कि मुख से खून निकल आता और कहते, "माँ, अब भी तूने दर्शन नहीं दिया।" लोग समझते कि ये पागल हो गये हैं अथवा सोचते कि बेचारे के पेट में पीड़ा हो रही होगी, इसीलिए इतना छटपटा रहे हैं। ठाकुर के जीवन को देखे बिना वैराग्य के इस दृष्टान्त को लोग भला कैसे समझ सकेंगे? भक्त लोग जब उनके पास पहुँचे, तब तक वे शान्त हो चुके थे – समुद्र की तरह शान्त। स्मरणीय है कि उन्माद की अवस्था में उनके लिए भक्तों को उपदेश देना सम्भव नहीं होता। वे जगदम्बा के यंत्र हैं, उन्हें विभिन्न अवस्थाओं में, विभिन्न रूपों में रखकर माँ ने विविध प्रकार से जगत को शिक्षा दी।

साधना और पूर्व प्रस्तुति

अनेक लोग कहते हैं, "उनके नाम का कितना जप किया, फिर भी कुछ नहीं हो रहा है।" कुछ नहीं हो रहा है, यह तो स्पष्ट रूप से समझ में आ रहा है, किन्तु नाम लेते समय क्या ठाकुर के समान तीव्र व्याकुलता का, विरह का, पीड़ा का बोध हुआ था? जब तक वह भाव नहीं आता, तब तक उनकी कृपा पाना सहज नहीं है। साधना में ऐसी ही व्याकुलता तथा वैराग्य की नितान्त आवश्यकता है। वैसे लगता है कि यह सब होता तो अच्छा होता, पर होता कहाँ है? इसके उत्तर में ठाकुर कहते हैं – इसके लिए जो तैयारी चाहिए, वह तो किया नहीं जा रहा है। पहली बात है, निर्जन में भगवान का चिन्तन, साधुसंग और जीवन को उसी भाव में गढ़ने के लिए एक पृष्ठभूमि तैयार करने की आवश्यकता है। अर्जित किए बिना कुछ भी नहीं मिल सकता, देने पर भी वह वस्तु टिकेगी नहीं। यह सब साधनलभ्य वस्तुएँ हैं। कोई कहेगा – वे नहीं देते, इसलिए नहीं होता। असल बात यह है कि हम चाहते हैं क्या? और यदि वे दे भी तो क्या उसे धारण करने की क्षमता हममें है? मथुर बाबू ने ठाकुर से बहुत हठ किया – आपको जैसा भाव होता है वैसा ही मुझे भी हो। ठाकुर बोले कि माँ की इच्छा हुई तो होगा। सचमुच एक दिन मथुर बाबू को भाव हो गया। तब उनकी अवस्था उन्मादी की तरह हो गई। उन्होंने ठाकुर को पुकार कर कहा, "बाबा, अपना भाव वापस ले लो, वह तुम्हें ही शोभता है।" जो

सम्पत्ति अर्जित नहीं है, उसे देने पर भी वह टिकती नहीं। साधना का यह एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। दीर्घ साधना के द्वारा ही इसे अर्जित किया जा सकता है।

कृष्णकिशोर

यहाँ पर ठाकुर कृष्णकिशोर के बारे में बता रहे हैं। कृष्णकिशोर कहते — "मैं आकाशवत् हूँ" अर्थात आकाश की तरह निर्लिप्त हूँ। वे वेदान्त पढ़े थे, इसलिये स्वयं को आकाशवत् कहते। आकाश में धुँआ उठता है, पर आकाश उससे रंजित नहीं होता। धुँआ उसे मलिन नहीं कर सकता। वायु की सुगन्ध-दुर्गन्ध आकाश का स्पर्श नहीं कर सकती। इधर एक दिन ठाकुर ने देखा — कृष्णकिशोर बड़े चिन्तित हैं, टैक्स नहीं पटा है, घर का सामान कुर्क हो जायगा। ठाकुर विनोद में बोले, "अजी, बहुत हुआ तो बर्तन-भाँड़े ले जायेंगे। अगर बाँधकर भी ले जायँ, तो तुम्हें थोड़े ही ले जा सकेंगे, तुम तो 'ख' (आकाश) हो।

सामान्य दृष्टि से तो ऐसा लगता है कि एक आदमी विपत्ति में पड़ा है और ठाकुर उसका उपहास कर रहे हैं। किन्तु यह उपहास किसी साधारण व्यक्ति के साथ नहीं है। कृष्णकिशोर वेदान्त के साधक हैं, अतः ठाकुर के कथन का मर्म समझ सकेंगे। उनकी कथनी ओर करनी में अन्तर है। इस विरोधाभास को ठाकुर मानो उनकी आँखों में अंगुली डालकर दिखा देते हैं। केवल मुख से 'मैं आकाश हूँ' कहकर भी कृष्णकिशोर अभी धारणा नहीं कर सके थे कि आकाशवत् होने के लिए किस हद तक उदासीन और आत्मस्थ होना होगा। उनके मन में कपट नहीं था, किन्तु वे तत्त्व को जीवन में कहाँ तक रूपायित कर सके हैं, इस विषय में वे शायद अवगत नहीं थे। ठाकुर ने उसी दिशा में उनकी दृष्टि को आकर्षित किया। केवल मुख से आकाशवत् कहने से काम नहीं होगा, आकाशवत् व्यवहार भी करना होगा। आकाशवत् होना और विषय चिन्तन करना — ये दो विरोधी अवस्थाएँ हैं। जैसा कि गीता में भगवान कहते हैं —

> **अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।**
> **गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः। २/११**

मूर्ख की तरह काम करते हो और बातें करते हो पण्डितों के समान; सच्चे तत्त्वज्ञानी किसी के लिए शोक नहीं करते। कृष्णकिशोर की कथनी और करनी में अन्तर है, यह देख किसी के मन में उसके प्रति हीन दृष्टि न आ जाय इसलिए

ठाकुर कुछ पहले ही कह आये हैं — "कृष्णकिशोर का कैसा विश्वास है ... निष्ठावान ब्राह्मण होकर भी वही जल पिया।" वे एक निष्ठावान ब्राह्मण थे। प्यास लगी तो कुएँ के पास खड़े हुए एक व्यक्ति से उन्होंने जल पिलाने के लिए कहा। उसने बताया कि वह नीची जाति का है। कृष्णकिशोर ने कहा, "तू कह शिव। शिव शिव कहने से ही तू शुद्ध हो जायगा।" नाम में उनको इतना विश्वास है कि आचारी ब्राह्मण होकर भी उन्होंने वह पानी पी लिया।

कृष्णकिशोर के प्रति किसी के मन में तुच्छता का भाव न आ जाय, इसलिए ठाकुर उनके अच्छे पक्ष को दिखा देते हैं। कृष्णकिशोर की साधुओं के प्रति कितनी श्रद्धा थी, यह भी ठाकुर बताते हैं। कृष्णाकिशोर कहा करते — जो ईश्वर-चिन्तन करता है, उनके लिए सर्वस्व त्याग किया है, उसकी देह साधारण देह नहीं, चिन्मय देह है। इतनी श्रद्धा थी उनकी साधुओं के प्रति, किन्तु ठाकुर उनकी अपूर्णताओं के बारे में भी बोल रहे हैं। आचारनिष्ठ कृष्णकिशोर की ठाकुर के प्रति खूब श्रद्धा होने पर भी उन्हें ठाकुर का जनेऊ त्यागना पसन्द नहीं आया था। ठाकुर अपनी उस अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं, "पहले की एक भी निशानी न रही। होश नहीं रहता था। जब कपड़ा ही खिसक जाता था, तो जनेऊ कैसे रहे?" मनुष्य जब भगवान के लिए इस तरह पागल हो जाता है, तब आनुष्ठानिक धर्म का पालन उसके लिए सम्भव नहीं होता। अनुष्ठान तभी तक हैं, जब तक उसमें भगवान के लिए यह उन्माद नहीं आ जाता।

आचार-अनुष्ठान तथा उद्देश्य

ठाकुर समाधिस्थ हो रहे हैं, यह देखकर एक साधु कहते हैं — "अरे, यह क्या, पहले आसन तो लगाओ, उसके बाद समाधि लगाना" — अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और उसके बाद तो समाधि लगायी जायगी। इस तरह की सहज समाधि उस साधु ने कभी नहीं देखी थी। समाधि के बारे में उन्होंने पढ़ा है, उसके क्रम को जानते हैं और इसीलिए कह रहे हैं — पहले आसन लगाओ। जब किसी को सहज समाधि होती है, तब उसे किसी आसन आदि की आवश्यकता नहीं रह जाती। आसन आदि तो उपाय हैं। हम लोग कई बार उपाय को ही उद्देश्य मान बैठते हैं। बाह्य पवित्रता का अवलम्बन करके आन्तरिक शुद्धता में प्रतिष्ठित हुआ जाता है। किन्तु कई बार

बाह्य शुचिता के अतिरेक में आन्तरिक पवित्रता रूपी वास्तविक उद्देश्य धरा रह जाता है। ऐसे अनेक शुचिता-व्याधि से पीड़ित लोग हैं, जो उपाय को ही उद्देश्य मान बैठे हैं। वे सर्वदा यही लेकर सावधान रहते हैं कि कहाँ क्या अपवित्र हो गया। इस बात पर दृष्टि नहीं है कि उस पवित्रता के द्वारा जिस वस्तु को पाना है, उस दिशा में आगे बढ़ रहे हैं या नहीं। उनके लिए तो पवित्र होने के ये अनुष्ठान ही जीवन का उद्देश्य बन जाते हैं। इसीलिए ठाकुर हमेशा लक्ष्य का ही ध्यान दिलाते थे। अगर कोई हविष्य आहारी होकर भी भगवान में मनोयोग नहीं करता, तो समझना होगा कि वह हविष्य अखाद्य है। चाहे कोई कितना भी हविष्याहारी अथवा तिलकधारी हो, पर मन यदि भगवान की ओर न रहे, तो वह सब निरर्थक है। हो सकता है कि वह कपटाचारी न हो, किन्तु वह इन सबको इतना महत्व देता है, मानो ये ही उसके जीवन का उद्देश्य हों। तथाकथित शुद्धाचार, मन की शुद्धता नहीं है। सम्भव है कि कभी-कभी इससे थोड़ी बहुत सहायता मिल जाय, पर कभी-कभी वह विघ्नस्वरूप भी हो जाता है। हमारे देश में स्पर्शदोष की परम्परा है, छूने से ही वस्तु या व्यक्ति अपवित्र हो जाता है। दक्षिण में है दृष्टिदोष – देखने मात्र से ही सब अशुद्ध हो जाता है। मनुष्य के मन की यह अवस्था उसे भगवान की ओर न ले जाकर, मन को और भी नीचे गिरा देती है। ठाकुर के उपदेश का यहाँ यही तात्पर्य है।

दोष दृष्टि का त्याग

इसके बाद ठाकुर अपने साधनाकाल की एक अन्य अवस्था के बारे में कहते हैं। वे उन्माद की अवस्था में लोगों को सच्ची बातें साफ-साफ कह देते थे। यतीन्द्रनाथ टैगोर ने जब युधिष्ठिर के नरकदर्शन की उपमा दी, तो ठाकुर नाराज होकर बोले थे, "तुम भला कैसे आदमी हो, युधिष्ठिर का केवल नरकदर्शन ही तुमने याद रखा, उनकी सत्यनिष्ठा, क्षमा, धैर्य, विवेक, वैराग्य, ईश्वरभक्ति – यह सब बिल्कुल याद नहीं आता?" सद्गुण का चिन्तन करने से मन भी उस ओर जायगा, निम्नगामी नहीं होगा – ठाकुर इस बात को हमेशा याद दिलाते रहते थे। हम लोग प्रायः अपनी श्रेष्ठता दिखाने के लिए दूसरों के दोषों की चर्चा करते हैं। पर निन्दा के पीछे उद्देश्य होता है यह समझा देना कि हम उस तरह के नहीं हैं। इसमें प्रकारान्तर से आत्मप्रशंसा ही की जाती है। इस प्रकार ठाकुर हमें इससे सावधान कर देते हैं।

फिर इसी अवस्था में एक दिन ठाकुर ने जय मुकर्जी को तथा एक अन्य दिन रानी रासमणि को भी अन्यमनस्क देखकर थप्पड़ लगा दिये। साधनापथ पर सबको आगे बढ़ाना ही उनका उद्देश्य था। किन्तु यह भाव उन्हें अच्छा नहीं लगता था। कहते हैं, "माँ को पुकारते पुकारते वह स्वभाव दूर हुआ।" वे भक्तों को उत्साहित करते, ताकि वे लोग साधन-भजन करें, किन्तु यह जो शिक्षक का भाव है, प्रताड़ित करने का भाव, वह उन्हें अच्छा नहीं लगा। ईसा मसीह के जीवन की एक घटना है। उन्होंने यहूदियों के मन्दिर में जाकर वहाँ Money-changer (लेन-देन करनेवाले) लोगों का कुछ-कुछ हमारे पण्डों जैसा उपद्रव देखा। वे इतने क्रोधित हुए कि उन्होंने लाठी लेकर उन लोगों को मन्दिर से यह कहते हुए भगा दिया, "Ye have made my Falher's house a den of thieves" — (मेरे पिता के घर को तुम लोगों ने चोरों का अड्डा बना लिया है? किन्तु यह अवस्था उनमें हमेशा नहीं रहती थी। एक भ्रष्ट आचरणवाली स्त्री के लिए पंचायत हुई। उस देश के उस युग के विधान के अनुसार उस पर पत्थर फेंककर मार डालना निश्चित हुआ। इस निर्णय के बारे में सुनकर ईसा बोले, "ठीक है, पर जिसने अपने जीवन में कोई पाप न किया हो, वही पहला पत्थर मारे।" ऐसा कोई भी नहीं मिला, अतः उस सजा को छोड़ दिया गया। जो असाधारण हैं, वे लोकशिक्षा के लिए कभी तो वज्र से भी कठोर और कभी पुष्पों से भी कोमल हो जाते हैं।

ठाकुर अपनी साधनावस्था के बारे में बताते हुए कहते हैं, "इस अवस्था में ईश्वरीय-प्रसंग के सिवा और कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। विषयचर्चा होते सुनकर मैं बैठा-बैठा रोया करता था।" जिस वाराणसी को उन्होंने चिन्मय देखा था, सर्वत्र साक्षात विश्वनाथ का दर्शन पाया, वहीं कुछ लोगों को विषयचर्चा करते सुनकर उन्हें अपार कष्ट हुआ था। ठाकुर मथुर बाबू के साथ काशी गये थे। वहाँ राजाबाबू के परिवार के लोग बैठकर विषयचर्चा कर रहे थे, उसे सुनकर ठाकुर को इतनी पीड़ा हुई कि उनकी आँखों से आँसू बहने लगा। रोते हुए वे बोले, "माँ, तू मुझे कहाँ ले आयी!" दक्षिणेश्वर के परिवेश में विषयी लोग विषयचर्चा छेड़ने का साहस नहीं करते थे, पर यहाँ तो विषयी लोगों का ही बैठकखाना है, इसीलिए ठाकुर रो रहे हैं।

☐

मानस रोग (२४/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने रामचरितमानस के अन्तर्गत मानस-रोग प्रकरण पर कुल ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके चौबीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। — सं.)

महाराज श्रीदशरथ के साथ कैकेयीजी का विवाह हुआ और वे उनके साथ अयोध्या आयीं। उनमें अनेक सद्गुण थे। अगर वे अकेली अयोध्या आयी होतीं, तो कोई समस्या नहीं उत्पन्न होती। लेकिन कैकयनरेश कुछ अधिक ही चतुर निकले। उनको चिन्ता हुई कि मेरी कन्या भोली-भाली है, अयोध्या में महाराज दशरथ की अन्य रानियाँ कहीं मेरी बेटी को ठग न लें। इसलिए किसी बुद्धिमान व्यक्ति को कैकेयी के साथ भेजना चाहिए। और उन्हें इस काम के लिए सबसे बुद्धिमान मिली मन्थरा। उन्होंने सोचा कि मन्थरा से बढ़कर बुद्धिमान और कोई नहीं दिखता, यह मेरी बेटी के साथ रहेगी, तो उसे कभी घाटा नहीं होने देगी। यही कर्तृत्त्व अभिमान की वृत्ति है। हमारे किसी भी काम में हमें कभी भी किसी तरह का घाटा न हो, इसीलिए उन्होंने कैकेयी के साथ मन्थरा को जोड़ दिया। और यह मन्थरा कौन है? मन्थरा है लोभ की वृत्ति। कर्तृत्त्व-अभिमानी की क्रिया के साथ लोभ की वृत्ति भी जुड़ी रहती है और उस लोभी व्यक्ति के मन में यही वृत्ति रहती है कि बिना कुछ किये सब मिल जाय। यही लोभ का स्वरूप है और इसी वृत्ति को लेकर मन्थरा का चरित्र बना है।

इस तरह से कैकयनरेश ने महाराज दशरथ के जीवन में कैकेयी के साथ मन्थरा को भी रोप दिया। अयोध्या की भूमि में अवसर पा कर यह लोभ का बीज अंकुरित हुआ और किस प्रकार से उसका क्रमविकास होता है, उसे गोस्वामीजी ने यहाँ मानस-रोगों के सन्दर्भ में मन्थरा के चरित्र के माध्यम से प्रस्तुत किया है। पहले लोभ और लोभ के पश्चात् राजयक्ष्मा हो गया। फिर राजयक्ष्मा के बाद कोढ़ हुआ।

मानस-रोगों में लोभ मन्थरा से प्रारम्भ होता है। श्रीभरत तो ननिहाल चले गये, लेकिन लक्ष्मणजी इस मन्थरा को बड़ी सजग दृष्टि से देखते रहते थे, क्योंकि उन्हें लगता था कि अगर अयोध्या में कुछ गड़बड़ी हुई या कोई अनर्थ हुआ, तो उनके मूल में कहीं न कहीं मन्थरा का हाथ अवश्य होगा। लेकिन जिस दिन लक्ष्मणजी ने सुना कि कल अयोध्या के सिंहासन पर श्रीराम बैठेंगे, तो प्रसन्न हो गये कि चलो, सब झगड़ा मिटा, समस्या दूर हुई। अब श्रीराम सिंहासन पर बैठेंगे, रामराज्य हो जायेगा, तब मन्थरा कुछ नहीं कर सकेगी और वे निश्चिन्त हो गये। लेकिन उस दिन केवल एक रात के लिए लक्ष्मणजी का मन्थरा की ओर से निश्चिन्त हो जाना, उसके लिए काफी था। वह इतनी बड़ी षड्यंत्रकारिणी थी कि सारी योजना को उलट-पुलट कर देने के लिए इसके लिए एक रात ही पर्याप्त था और सुबह होते होते रामराज्य राम-वनवास में बदल गया। और उसकी यह वृत्ति आरम्भ कहाँ से होती है? वही क्रम — क्रिया के साथ लोभ, लोभ के साथ ईर्ष्या। मानस-रोगों के सन्दर्भ में गोस्वामीजी इसकी तुलना शरीर के रोगों से करते हुए कहते हैं —

काम बात कफ लोभ अपारा। ७/१२०/३०

— लोभ मानो कफ है। और राज्यक्ष्मा कैसे होता है? जब कफ का साधारण प्रकोप हो, तब खाँसी होती है। और वही कफ जब विकृत हो जाता है तब वह राजयक्ष्मा के रूप में परिणत हो जाता है। इसी तरह से जब तक क्रिया के साथ थोड़ा लोभ रहता है, तब तक वह एक सामान्य रोग है और साध्य है। पर जब लोभ का अतिरेक हो जाय और दूसरों का वैभव देखकर हृदय जलने लगे, तब समझ लेना चाहिए कि मन का राजयक्ष्मा हो गया है। जब तक अपने ही लाभ की चिन्ता बनी रहे, तब तक तो वह क्षम्य है, ऐसा व्यक्ति समाज में रह सकता है और रहता है। लेकिन जब अपने लाभ के लिए वह दूसरों की हानि का चिन्तन करने लगे, तब समझ लेना चाहिए कि लोभ अत्यन्त विकृत रूप धारण करने जा रहा है। और यही मन्थरा के चरित्र में होता है। मन्थरा ने ज्योंही सुना कि राम को राज्य मिलनेवाला है, तो गोस्वामीजी ने कहा कि उसका कफ विकृत होकर राजयक्ष्मा में परिणत हो गया। और इतना ही नहीं, उसकी चरम परिणति तो यह हुई कि राजयक्ष्मा के साथ-साथ कोढ़ भी हो गया।

यही क्रम है। पहले तो उसने लोगों से पूछा —

पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू।
राम तिलकु सुनि भा उर दाहू।। २/१३/२
पर सुख देखि जरनि सोई छई।
कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई।। ७/१२०/३४

— राम का तिलक सुनकर उसका हृदय जलने लगा। और इसके फलस्वरूप पहले तो उसे राजयक्ष्मा हुआ और उसकी अगली प्रतिक्रिया क्या हुई? मन का कोढ़ हो गया और यहाँ पर —

देखि लागि मधु कुटिल किराती।
जिमि गवँ तकइ लेउँ केहि भाँती।। २/१२/४

गोस्वामीजी ने दृष्टान्त दिया है — मधुमक्खियों ने बड़ा परिश्रम करके मधु एकत्रित किया। लेकिन किरातिन की वृत्ति है कि वे न खा सकें और हम बिना परिश्रम के उसे पाकर अपने स्वार्थ की पूर्ति करें। उन्होंने कहा — मन्थरा के अन्तःकरण में क्रमशः ईर्ष्या तथा उसके बाद कुटिलता उत्पन्न हुई। क्रिया के साथ लोभ का कफ, कफ के बाद ईर्षा का राजयक्ष्मा और उसके बाद कुटिलता और दुष्टता का कोढ़। गोस्वामीजी तो मन्थरा को बहुत बड़ी उपाधि देते हैं। किसी ने उनसे पूछ दिया — कैकेयीजी के गुरु कौन हैं? उन्होंने दीक्षा किनसे ली है? तो कहा — मन्थरा से। मन्थरा में ऐसी कौन सी विशेषता है?

गोस्वामीजी ने कहा —

कोटि कुटिल मनि गुरू पढ़ाई। २/२६/६

— कुटिल ही नहीं, करोड़ों कुटिलों में सर्वश्रेष्ठ कुटिल — कुटिलों की मुकुटमणि है मन्थरा। इसलिए कहा कुटिलमणि। यही मन्थरा का चरित्र है।

श्रीराम के राज्याभिषेक का समाचार सुनकर मन्थरा का हृदय जल उठा और वह कैकेयी के पास गयी। अब कैकेयीजी की समस्या यह है कि ये प्रभावित बड़ी जल्दी होती है। क्रिया की यह समस्या है। जहाँ मूल संस्कार के रूप में क्रिया का बीज पड़ा हुआ है, वहाँ प्रशंसा सुनने की वृत्ति है। कर्तृत्व-अभिमानी व्यक्ति प्रशंसा सुनने के बड़े भूखे होते हैं। ज्ञानी तो समत्व में स्थित है और भक्त अन्तर्मुख है, उसमें अपने आपको प्रगट करने की वृत्ति नहीं हैं। भक्त तो पूरी

तरह से अपने व्यक्तित्व को छिपाने में विश्वास रखता है। पर क्रियापरायण व्यक्ति की समस्या यह है कि वह केवल अच्छी क्रिया ही नहीं करना चाहता, उस क्रिया का अधिक से अधिक प्रदर्शन भी करना चाहता है। और उसके मन में यह वृत्ति रहती है कि इस क्रिया के बदले समाज के लोग मुझे और लोगों की अपेक्षा अधिक महत्व दें, अधिक सम्मान दें।

कैकेयी के मन में यही दुर्बलता विद्यमान हैं। और इसी कारण वे संगदोष से बड़ी जल्दी प्रभावित हो जाती है। जैसे प्रतिरोधी शक्ति की कमीवाले व्यक्ति संक्रामक रोगों से जल्दी प्रभावित हो जाते हैं, वैसे ही मन के रोगों में भी क्रियाप्रधान व्यक्ति संग से जल्दी प्रभावित हो जाता है। यह छूत की बिमारी न तो कौशल्याजी को लगी और न ही सुमित्राजी को। पर कैकेयीजी इससे तत्काल ग्रस्त हो गयीं। अगर यह रोग कौशल्याजी, सुमित्राजी, श्रीराम, लक्ष्मणजी — सबको लग जाता, तब तो यह महामारी के रूप में फैल जाता। जैसा कि शरीर के सन्दर्भ में और मन के सन्दर्भ में भी होता है। कई बार इस तरह की संक्रामक महामारी फैल जाती है। कोई व्यक्ति हमारे विरुद्ध षड्यंत्र करता है, तो हम भी उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचते हैं। अगर कोई हमें हानि पहुँचाने की चेष्टा करता है, तो हम भी उसे नुकसान पहुँचाने का प्रयास करते हैं। इस तरह सारा समाज रोगी हो जाता है। और जब समाज में सबके सब रोगी हो जायँ, तब कौन किसकी निन्दा करे। मन के रोगों में तो विशेष रूप से यह विडम्बना होती है कि मन का रोगी तो अपने आपको रोगी मानता ही नहीं, वह सामनेवाले को ही रोगी समझता है। शरीर के रोगों में तो रोगी कम-से-कम स्वयं को रोगी तो अनुभव करता है, पर मन का रोगी कभी स्वीकार नहीं करता कि वह रोगी है। वह तो दूसरों को ही रोगी देखता है और दूसरों की ही आलोचना करता रहता है। यह मनोरोगियों का स्वभाव है।

कैकेयीजी की तरह अगर कौशल्याजी भी अपनी बात पर दृढ़ हो जातीं, तो महाराज दशरथ को बाध्य कर सकती थीं — आपने मुझे, अयोध्या की प्रजा को, गुरु वशिष्ठ को वचन दिया है कि कल सुबह राम को राज्य दे देंगे। उस वचन की आप रक्षा कीजिए। कैकेयीजी ने जैसे वचन का आग्रह किया, वैसे

ही क्या कौशल्याजी भी नहीं कर सकती थीं? और क्या सुमित्राजी के अन्तःकरण में प्रतिक्रिया नहीं हो सकती थी? क्या वे लक्ष्मणजी को आदेश नहीं दे सकती थी कि वे कैकेयी के षड्यंत्र को नष्ट करके भरत का राज्य न होने दे? ऐसी क्रिया-प्रतिक्रिया समाज में होती रहती है। जहाँ लोभ है, दूसरों के सुख को देखकर ईर्ष्या है और व्यवहार में कुटिलता है, वहाँ परिणाम यही होता है कि समाज में यह रोग महामारी की तरह फैल जाता है और लोग एक के बाद एक इससे आक्रान्त होते जाते हैं।

कैकेयी रोग से आक्रान्त हो गयीं। पहले स्वस्थ थीं, परन्तु मन्थरा छूत का रोग लेकर आयी — राजयक्ष्मा तथा कोढ़, और कैकेयी के मन में बैठा दिया। संक्रामक रोग फैलने पर सावधानी रखने पर भी उस रोग से किसी सीमा तक बचा जा सकता है। इसीलिए संक्रामक रोग फैलने पर चिकित्सक अनेक प्रकार की सावधानी का निर्देश देते हैं। कैकेयी स्वस्थ थीं, पर सावधान नहीं थी, अतः आक्रान्त हो गईं। मन्थरा जिस रोग से ग्रस्त है, उसके संक्रमण की प्रक्रिया क्या है? मन्थरा अभिनय की कला में बड़ी निपुण है। आँसू बहाते हुए आती है। गोस्वामीजी ने एक बहुत बढ़िया बात कही। उन्होंने कहा — काम का बल है सुन्दरता, क्रोध का बल है कठोर वचन, पर लोभ के दो बल हैं —

लोभ के इच्छा दंभ बल काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि।। ३/३८/ख

— जब व्यक्ति में काम की वृत्ति आयेगी, तब नारी के प्रति आकर्षण होगा। जब क्रोध की वृत्ति आयेगी, तो वह मुख से अपशब्द बकने लगेगा। परन्तु जब लोभ की वृत्ति आती है तब दो बातें होती है — भीतर इच्छा और बाहर त्याग का दिखावा। इसका अभिप्राय क्या है? यही कि लोभी व्यक्ति भीतर तो इच्छाओं से भरा होता है, पर वह यह नहीं चाहता कि लोग उसे लोभी समझें। वह अपनी इच्छाओं को भीतर छिपाता है। दम्भ का अर्थ है — आन्तरिक वृत्तियों को छिपाकर अपना एक बनावटी रूप प्रस्तुत करना। अन्तर के लोभ को छिपाकर त्यागी का अभिनय करना — यह दम्भ है। गोस्वामीजी ने कहा कि जीवन की सबसे बड़ी समस्या यह दम्भ है।

करौं जो कछु धरौं सचि पचि सुकृत सिला बटोरि।
पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अँजोरि।। वि.प. १५८

— मैं सत्कर्म के जो थोड़े कण एकत्र करता हूँ, दम्भ मेरे भीतर पैठकर उन सारे सत्कर्मों को चुरा लेता है। अभिप्राय यह कि दम्भ सारे सत्कर्मों को नष्ट कर देता है। इस दम्भ का स्वरूप मन्थरा के चरित्र में अच्छी तरह दिखायी देता है। उसके मन में योजना तो यह है कि राज्य राम के स्थान पर भरत को मिले। और जब भरत राजा हो जायेंगे, तो मुझे न जाने कितना पुरस्कार देंगे। पर जब बोलती है, तो उसका वाक्य कितना विचित्र है? कहती है —

कोउ नृप होउ हमहिं का हानी।
चेरि छाड़ि अब होब कि रानी।। २/१५/६

— चाहे जो भी राजा हो, मुझे इससे क्या लेना देना! मैं कोई दासी से रानी थोड़े ही हो जाऊँगी! लोभ से हृदय भरा हुआ है और बताना यह चाहती है कि मुझसे बड़ा निःस्वार्थ कोई है ही नहीं। कौशल्या का बेटा राजा बनेगा, तो कौशल्या का स्वार्थ पूरा होगा और तुम्हारा बेटा राजा बनेगा तो तुम्हारा, पर मुझे क्या मिलेगा? इसलिए मैं तो पूर्णतः निःस्वार्थ हूँ। इस अयोध्या में मेरे समान निःस्वार्थ कोई भी नहीं है। कितनी अद्भुत है मन्थरा? मानो मूर्तिमान दम्भ।

जो दम्भी होते हैं वे नाटक की कला में बड़े निपुण होते हैं। संस्कृत में एक ग्रन्थ है — 'कलाविलास'। उसमें कहा गया है कि सुनियोजित दम्भ से कभी-कभी इतना भ्रम हो जाता है कि वह समाज में पूजित होने लगता है। एक बार समाज में जब दम्भ पूजा जाने लगा, तब वह स्वर्ग की ओर चला। स्वर्ग में पहुँचा तो इन्द्र ने खड़े होकर उसका स्वागत किया और कहा — आप मेरे सिंहासन पर बैठिए। दम्भ ने इन्द्र के सिंहासन को लात मारते हुए कहा — क्या मैं तुम्हारे इस तुच्छ सिंहासन को लूँगा? इन्द्र और भी गद्‌गद हो गये। उन्हें लगा कि ये कितने बड़े त्यागी महात्मा हैं, स्वर्ग के इन्द्रासन का भी परित्याग कर दिया। आगे चलकर दम्भ की यहाँ तक उन्नति हुई कि वह ब्रह्मलोक तक जा पहुँचा। वहाँ जितने ऋषि-मुनि-देवता थे, सब खड़े हो गये। इसका व्यंग्यात्मक तात्पर्य यह है कि दम्भ को पहचान पाना कभी-कभी तो ऋषि-मुनियों और देवताओं के लिए भी कठिन हो जाता है। सभी धोखे में आ गये और अपना अपना आसन छोड़कर कहने लगे — आइए, आइए, बैठिए। वह बोला — ऐसे आसनों पर मैं नहीं बैठता। ब्रह्माजी ने कहा — अच्छा, तो फिर आओ, मेरी गोद में बैठ जाओ।

उसने कहा – बैठ तो जाएँगे पर ... । और वह अपने कमण्डलु से जल लेकर ब्रह्माजी की जाँघ पर छिड़कने लगा। ब्रह्माजी ने पूछा – यह क्या कर रहे हो? बोला – आपकी जाँघ को पवित्र कर लूँगा, तब बैठूँगा। ब्रह्मा ने कहा – अच्छा बेटा, तो तू दम्भ है, यहाँ तक आ पहुँचा है। जा, जा, नीचे जा, अब मैंने तुझे पहचान लिया है, तू यहाँ रहने लायक नहीं है, जाकर मृत्युलोक में ही रह।

इस आख्यान में कटाक्ष यह है कि ब्रह्माजी बुद्धि के देवता हैं, पर यह दम्भ एक बार उनकी आँखों में भी धूल झोंकने में सफल हो गया। पहले तो ब्रह्मा भी उसे नहीं पहचान पाये, पर जब देखा कि वह तो मेरी गोद को भी अपवित्र कह रहा है और अपने कमण्डलु के जल से उसे पवित्र कर रहा है। अतिरेक हो गया, तो समझ गये कि अरे, यह तो दम्भ है, केवल दिखावा है। है तो परम अपावन, पर अपने आपको ब्रह्मा से भी पवित्र दिखाना चाहता है। और यही दम्भ की वृत्ति मन्थरा के चरित्र का मुख्य अंश है। वह यह दिखाने की चेष्टा करती है कि मानो उसके जीवन में अपनी कोई आकांक्षा नहीं है, कोई स्वार्थ नहीं है, वह तो केवल दूसरों का हित-चिन्तन ही करती है, परोपकार करती है। वह यह नहीं जताती कि उसके मन में कोई लोभ है, स्वार्थ है या कुछ पाने की लालसा है। वह अपने अन्तःकरण के इस भाव को भीतर ही छिपाये रखकर बाहर प्रदर्शित करती है कि वह तो केवल सत्य, धर्म, न्याय, परोपकार और परहित के लिए ही प्रयत्नशील है। अगर कोई मन्थरा से पूछे – यह सब तुम क्यों कर रही हो, तो वह कहती है – अन्याय मुझसे देखा नहीं जाता। मैं तो बस अन्याय को मिटाने के लिए व्यग्र हूँ। समाज के हित के लिए व्याकुल हूँ। जितने स्वार्थी होते हैं, सब यही भाषा बोलते हैं कि हमें अपने लिए कुछ नहीं चाहिए, पर हम समाज में अन्याय होते हुए नहीं देख सकते। लेकिन सच तो यह है कि उनकी इस सामाजिक चिन्ता अथवा लोगों के हित के पीछे उनकी वास्तविक वृत्ति स्वार्थपरक ही होती है। लेकिन उनका परोपकार का अभिनय इतना सशक्त होता है कि वह सत्य प्रतीत होने लगता है और उनके अन्तःकरण में छिपी हुई स्वार्थ की वृत्ति किसी को दिखायी नहीं देती।

मन्थरा हाँफती हुई, लम्बी-लम्बी साँसें भरती कैकेयीजी के पास पहुँची। कैकेयी मन्थरा को निकट से जानती थी। अतः उसका अभिनय देखकर उनको

हँसी आ गयी। कैकेयी उसकी इस आदत को जानती थी कि जब उसे किसी की चुगली करनी होती है, तो वह ऐसा ही नाटक रचती है। इसलिए वे हँसते हुए बोलीं — मैं समझ गई कि तुम्हारी यह हालत क्यों है। — क्यों? बोलीं —

दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे।। २/१२/७

— लगता है, लक्ष्मण ने आज तुम्हें कुछ सबक सिखाया है। और यह भी सत्य है कि लक्ष्मणजी मन्थरा को प्रायः डाँटते रहते थे। लक्ष्मणजी मूर्तिमान वैराग्य हैं और मन्थरा लोभ। लक्ष्मणजी सदा सजग भाव से मन्थरा पर दृष्टि रखते थे और उसकी थोड़ी भी कुचेष्टा देखते ही तुरन्त उसे डाँट-फटकारकर नियंत्रित रखते थे। लोभ पर वैराग्य का नियंत्रण, यही वैराग्य की भूमिका है।

लेकिन आज वैसी बात नहीं। मन्थरा का आज का रोना-धोना लक्ष्मणजी के फटकार के कारण नहीं, बल्कि आज तो लक्ष्मणजी की निश्चिन्तता की वजह से ही उसे मानो खुली छूट मिल गई है, इसलिए वह अपनी कला और भी बड़े जोर-शोर से दिखाने लगी। ऐसा अभिनय किया, ऐसा रोना रोयी कि हँसती हुई कैकेयी भी सहम गईं — क्या बात है? लगता है कि कोई गम्भीर घटना घट गई है। तू हमेशा ऐसे ही किया करती है, इसलिए मैं तुझे देखकर हँसने लगी थी, लेकिन आज तो लगता है कि तू सचमुच रो रही है, राम कुशल तो है न? इतना सुनते ही मन्थरा की ईर्ष्या-अग्नि में मानो घी पड़ गया। कैकेयी उस समय इतनी उदार थी कि कुशल भी पूछा तो सबसे पहले राम का पूछा। वैसे तो उनके लिए भरत की कुशलता पूछना ही स्वाभाविक होता। मेरा बेटा भरत ननिहाल में है, वहाँ से कोई समाचार तो नहीं आया? पर उन्होंने भरत के बारे में नहीं पूछा। कैकेयी ने मन्थरा से पहला प्रश्न किया – राम कुशल से हैं न?

कैकेयी के इस प्रश्न से मन्थरा को बड़ी चोट लगी, बड़ी पीड़ा हुई। पर उसने उस पीड़ा को प्रकट नहीं होने दिया और अपनी ईर्ष्या की वृत्ति को छिपाकर न्याय और सत्य की बड़ी-बड़ी बातें करने लगी। यही कपट की वृत्ति है। अगर कोई व्यक्ति स्पष्ट रूप से यह कह दे कि मेरे मन में ईर्ष्या है, द्वेष है, बदला लेना चाहता हूँ, तो उसको समझना बड़ा सरल है। पर कोई व्यक्ति अपने मन की दुर्भावनाओं को भीतर छिपाकर बाहर से ऊँची ऊँची सिद्धान्त की बातें करता है, तब उसे पहचानना बड़ा कठिन हो जाता है। मन्थरा का चरित्र ऐसा ही है।

गोस्वामीजी ने कहा कि कैकेयीजी की बात सुनकर मन्थरा को बड़ी चोट लगी, पर जैसे चोर की स्त्री प्रकट रूप से नहीं रोती, स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहती, उसी तरह मन्थरा अपने भीतर की पीड़ा को दबाकर कहती है —

रामहि छाड़ि कुसल केहि आजू।
जेहि जनेसु देइ जुबराजू।। २/१३/२

— अरे राम को छोड़कर आज कुशल से कौन है? जिसे महाराज युवराज पद दे रहे हैं, उस राम को छोड़ और किसका कुशल हो सकता है! कैकेयी तो सुनकर गदगद हो गयीं। कहने लगीं -- अरी मन्थरा, अभी तक तो मुझे इसका समाचार ही नहीं मिला। तुम्हीं ने सबसे पहले यह समाचार मुझे दिया है —

राम तिलकु जौं सांचेहुं काली।
देउँ मागु मन भावत आली।। २/१४/४

— अगर यह समाचार सच है, तो तू जो माँगेगी, मैं तुझे वही दूँगी। राम का राज्य होगा, इससे बढ़कर प्रसन्नता की बात तो कुछ हो ही नहीं सकती। यह कैकेयी का सत्त्व है। पर मन्थरा कैकेयी की दुर्बलता को जानती थी। वह जानती थी कि कैकेयी को अपने पिता से संस्कार के रूप में रजोगुण मिला है। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ क्रिया होगी, वहाँ रजोगुण अवश्य होगा। मन्थरा जानती थी कि कैकेयी इस समय ऊपर से चाहे जितनी भी उदार क्यों न दिखाई दें, पर मैं इन्हें बचपन से देखती आ रही हूँ, जानती हूँ कि इनके अन्तःकरण में रजोगुण के संस्कार हैं, जो अभी दबे हुए हैं। और वह कैकेयी के उसी दबे हुए रजोगुण को उभारने की चेष्टा करने लगी। पहले तो कैकेयी मन्थरा पर विगड़ खड़ी होती हैं और बड़े कठोर शब्दों में कहती हैं कि यदि फिर कभी तूने ऐसी बात कही, तो मैं तेरी जीभ खिंचवा लूँगी —

पुनि अस कबहुं कहसि घरफोरी।
तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी।। २ /१३/८

कैकेयीजी ने उसका नाम ही रख दिया — 'घरफोरी'। कहा — तू घर में झगड़ा करा देना चाहती है। किन्तु मन्थरा में इतना अद्‌भुत धैर्य है, इतनी गहरी कुटिलता है कि उसके स्थान पर अगर कोई दूसरा होता, तो शायद यह सोचकर निराश हो जाता कि अरे, ये तो राम के प्रति इतनी उदार है, इन्हें भड़काने का

प्रयास व्यर्थ है। पर मन्थरा भी रामचरितमानस की कोई साधारण पात्र नहीं हैं। वह अपने तरह की अकेली ही है। आगे चलकर गोस्वामीजी ने तो उसे कुटिलता की सर्वोच्च उपाधि से विभूषित कर दिया। जब मन्थरा ने अपनी कला का प्रयोग किया, ऐसा अभिनय और संवाद प्रस्तुत किया कि कैकेयीजी उससे प्रभावित हो गयीं और तब गोस्वामीजी ने कहा — मन्थरा कुटिल-शिरोमणि है।

कैसी विचित्र विडम्बना है! व्यक्ति कभी-कभी जानते हुए भी कैसे उलझ जाता है — इसका गोस्वामीजी बड़ा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं। पहले तो कैकेयीजी ने मन्थरा का नाम 'घरफोरी' रख दिया और कहा कि अगर तूने फिर कभी ऐसी बात कही, तो तेरी जीभ खिंचवा लूँगी। पर बाद में वे ऐसी प्रभावित हुईं, मन्थरा ने ऐसा चमत्कार किया कि मन्थरा की जीभ तो नहीं कटी, बल्कि मन्थरा की जीभ कैकेयी की जीभ पर सवार हो गई। जो मन्थरा की भाषा है, वही अब कैकेयी भी बोलने लगीं। अपनी भाषा ही भूल गईं। और आँखें? जिनकी आँखों में सदा श्रीराम बसते थे; अब वे मन्थरा से कहने लगीं — मैंने तो तुझे पहचानने में बड़ी देर कर दी, मुझसे बड़ी भूल हो गयी — क्या? मैंने अब तक तुझे चरणों में बिठाया। क्या तू चरणों में बिठाने लायक हैं? नहीं, तेरा स्थान तो — 'करऊँ तोहि चकपूतरी आली।' — तू तो आँखों में बसाने योग्य है, तुझे तो मैं अपनी आँखों की पुतली बना लूँगी। जिन आँखों में श्रीराम बसते थे, अब मन्थरा उन्हीं आँखों की पुतली बन गयी। मन्थरा की जीभ बन गई कैकेयी की जीभ। मन्थरा की आँखें बन गई कैकेयी की आँखें। अब वे मन्थरा की भाषा बोलने लगीं और मन्थरा की ही आँखों से देखने लगीं। और इसीलिए तो आगे चलकर जब कैकेयीजी मन्थरा से पूछने लगीं — अरे मन्थरा, अब कोई उपाय बता, मुझे क्या करना चाहिए? तब मन्थरा व्यंग्य करते हुए कहती है — मैं क्या बताऊँ, आपने तो मेरा नाम ही 'घरफोरी' रख दिया है।

मन्थरा कैकेयी से कहती है कि मुझे तो आपके हित की ही चिन्ता लगी रहती है। रात दिन यही सोचती रहती हूँ। और आगे अपनी दशा का वर्णन करते हुए कहती है — आपके हित की चिन्ता में मुझे न रात में नींद आती है और न भूख लगती है। मन्थरा के इन शब्दों में किसका चित्र है? यह ठीक ठीक एक सन्त का चित्र है। सन्त को परहित की चिन्ता में नींद नहीं आती।

पर मन्थरा कहती है कि मुझे कैकेयी की हित की चिन्ता में नींद नहीं आती —

जब ते कुमत सुना मैं स्वामिनि।
भूख न बासर नींद न जामिनि।। २/२०/६

अयोध्या में ऐसे दो ही व्यक्ति हैं, जिन्हें न रात में नींद आती और न दिन में भूख लगती थी। एक भरतजी और दूसरी मन्थरा देवी। भरतजी को भी —

निसि न नींद नहिं भूख दिन भरतु बिकल सुचि सोच। २/२५२

भूख भी नहीं लगती और नींद भी नहीं आती। दोनों की दशा एक जैसी हैं, पर अन्तर क्या है? अन्तर है मूल वृत्ति में। भरतजी की मूल वृत्ति क्या है? भरतजी को यही चिन्ता लगी हुई है कि —

केहि बिधि अवध चलहिं रघुराऊ । २/२५४/२

— किस तरह श्रीराम अयोध्या लौट चलें और रामराज्य हो। समाज का संकट किस तरह दूर हो। और मन्थरा सोच रही है किस तरह से रामराज्य न हो, किस तरह राम दूर हों, कैसे समाज में अनर्थ का संचार हो। उसमें लोगों को रुलाने की, झगड़ा लगा देने की वृत्ति है। दोनों को नींद नहीं आ रही है, सन्त को भी और असन्त को भी। भरतजी महानतम सन्त है, तो मन्थरा महानतम असन्त। बहिरंग लक्षण एक-सा होते हुए भी मूल वृत्ति में यह अन्तर है।

मन्थरा कैकेयी के कान में अपने कुमन्त्र का धीरे धीरे सूत्रपात करती है। कहती है — जानती हो कल राम के सिंहासन पर बैठने के बाद क्या होगा? मालूम है कि इससे तुम्हारा कितना कितना अहित होनेवाला है? कैकेयी तत्काल कहती हैं — अरे, तू कहती क्या है! क्या तुझे नहीं मालूम कि राम मुझसे कितना प्रेम करते हैं! राम तो अपनी माँ कौशल्या से भी अधिक प्रेम मुझसे करते हैं। यही कैकेयी के अन्तःकरण का रजोगुण है। यह आकांक्षा उनके हृदय में छिपी है कि श्रीराम मुझे अपनी माता के बराबर नहीं, उनसे भी अधिक प्रेम करें, सम्मान दें। कैकेयी के इस रजोगुण में सम्मान की भूख निहित थी। और इस भूख को मन्थरा जानती थी। उसने यह बिलकुल नहीं कहा कि राम आपसे प्रेम नहीं करते, बल्कि तुरन्त कहा — आप बिलकुल ठीक कह रही हैं कि श्रीराम पहले अपनी माता से भी अधिक प्रेम आपसे करते थे। — अब क्या हो गया?

रहा प्रथम अब ते दिन बीते।
समउ फिरें रिपु होहिं पिरीते।। २/१६/६

— वे दिन गये। अब समय बदल गया है, विपरीत हो गया है। और अब तो आगे क्या होनेवाला है, इसकी चिन्ता कीजिए।

यह जो काम है, इसमें वर्तमान की चिन्ता है, तुरन्त आनन्द की चिन्ता है। और क्रोध भूतकाल पर होता है। क्रोध इसलिए आता है कि ऐसा क्यों हो गया। और लोभ का आधार है भविष्य। लोभी से यदि पूछ दिया जाय — आप इतना संग्रह क्यों कर रहे हैं, तो वह यही कहेगा कि भविष्य में, बुढ़ापे में न जाने कब कितनी जरूरत पड़ जाय, इसलिए संग्रह कर ले रहे हैं। यह भविष्य की चिन्ता कैसी है, आपको पता है? भूत तो देख लिया, वर्तमान दिखाई दे रहा है, पर भविष्य तो केवल काल्पनिक होता है। उसका चाहे जैसा चित्र आप अपने मन में बना लीजिए। मन्थरा ने कहा — अब वो राम नहीं रहे। कल वे राजा बन जाएँगे। — तो क्या हो गया?

भरतु बंदिगृह सेइहहिं लखनु राम के नेब।। २/१९

— भरत कारागृह में डाल दिये जाएँगे और लक्ष्मण होंगे युवराज। यह भविष्य का एक पूर्णतः काल्पनिक चित्र है। पर इसका प्रभाव कैकेयीजी पर कितना प्रबल हुआ! कितना बड़ा अनर्थ कर दिया इस काल्पनिक चित्र ने! जो है ही नहीं उसकी ऐसी भयानक कल्पना और उस कल्पना में मन्थरा ने कैकेयीजी को ऐसा रँग दिया कि वे भी वही करने लग गयीं, जो अभी तक मन्थरा कर रही थी। मन के रोगों के सन्दर्भ में गोस्वामीजी ने जिस कुटिलता और दुष्टता को मन का कोढ़ कहा, वही रोग मन्थरा लेकर आई और कैकेयीजी में संक्रमित कर दिया। वे भी टी.बी. और कोढ़ से आक्रान्त हो गयीं।

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी।
मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी।। २/३३/१

कैकेयीजी में भी अब राजयक्ष्मा और कोढ़ के सारे लक्षण प्रकट हो गये। मन्थरा रोग लगाकर चली गई। अब वही कुटिलता और दुष्टता की वृत्ति कैकेयीजी में भी समा गयी। कुटिलता का अर्थ है — छल-कपट और दुष्टता। मन्थरा ने भी यह रोग कैकेयी के मन में पैठा दिया और यहाँ कैकेयीजी ने भी महाराज श्री दशरथ से छल का ही आश्रय लिया। वे भी ऊँची-ऊँची बातें कहकर, सत्य

और धर्म की दुहाई देने लगीं। वही मन्थरावाली कुटिल शैली! कैकेयी ने जब महाराज दशरथ के समक्ष बोलना शुरू किया, तो सबसे पहले उन्होंने सत्य की महिमा का बखान किया। बोलीं – महाराज, सत्य से बढ़कर कोई धर्म है क्या? तो उन्होंने कहा – 'धरम न दूसर सत्य समाना' – सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। कैकेयी ने कहा – बस उसी धर्म का मैं आपसे पालन करवाना चाहती हूँ। मैं धर्म और सत्य की रक्षा के लिए व्यग्र हूँ। आप जैसे महापुरुषों के द्वारा धर्म की रक्षा होनी चाहिए। – कैसे होगी सत्य और धर्म की रक्षा? -- ऐसे कि मेरे बेटे भरत को राज्य दीजिए और राम को वनवास। इसे कहते हैं कुटिलता।

महाराजश्री दशरथ ने राम को बुलाकर अपने पास बिठाया और उलाहना देते हुए बोले – राम, मैं तो तुम्हें अपना पुत्र ही समझता था, लेकिन जो ऋषि-मुनिगण मुझसे मिलने आते थे, वे यही कहते थे कि राम तुम्हारे पुत्र नहीं हैं। – तो कौन हैं?

सुनहु तात तुम्ह कहुँ मुनि कहहीं।
रामु चराचर नायक अहहीं।। २/७६/६

-- राम चराचर संसार के स्वामी हैं। भगवान राम ने दशरथजी की ओर देखा, मानो प्रश्न था कि पहले विश्वास नहीं किया, पर अब हो गया क्या? तो उन्होंने कहा – विश्वास तो तब भी नहीं था और अब भी नहीं है, पर सन्देह अवश्य था। लेकिन आज तो वह सन्देह भी बिलकुल मिट गया। उन ऋषि-मुनियों की बात बिलकुल भी सच नहीं है, तुम भगवान तो बिलकुल नहीं हो। भला इससे बढ़कर व्यंग्य और क्या होगा कि तुम अयोध्या के स्वामी तो बन नहीं पाए और ऋषि-मुनि कहते हैं कि संसार के स्वामी हो। अगर तुम सचमुच संसार के स्वामी होते तो क्या अयोध्या का सिंहासन तुमसे छिन जाता? लेकिन राम मैं तुमसे पूछना चाहता हूँ कि कर्मसिद्धान्त तो यह कहता है कि –

करइ जो करम पाव फल सोई।
निगम नीति असि कह सब कोई।। २/७६/८

पर यहाँ तो –

औरु करै अपराधु कोउ और पाव फल भोगु।
अति बिचित्र भगवंत गति को जग जानै जोगु।। २/७७

— अपने कर्म का फल मैं भोगूँ, यह तो न्याय हो सकता था, पर मेरे कर्म का फल अगर तुम्हें भोगना पड़े, तो यह कैसा न्याय है। तुम्हारे जीवन में तो कहीं कोई रंचमात्र भी अपराध नहीं, कोई पाप नहीं, कोई अन्याय नहीं, पर इतना होते हुए भी मेरी आसक्ति का फल तुम्हें भोगना पड़ रहा है। अगर मुनियों की बात जरा भी सच है, यदि तुम भगवान हो, तो मैं तुमसे पूछना चाहता हूँ कि यह सब क्यों हो रहा है?

महाराज दशरथ कर्म की विडम्बना से व्यथित हैं और कैकेयी-मन्थरा रजोगुण तथा स्वभावजन्य दुःख की सृष्टि कर रही हैं। झगड़ा तब होता है जब कुटिलता से कुटिलता का युद्ध हो। तब जीतेगा कौन? जो अधिक कुटिल होगा, वही जीतेगा। धूर्तता से धूर्तता का युद्ध हो, तो जो अधिक धूर्त होगा, वही जीतेगा। लेकिन वहाँ कुटिलता और सरलता आमने सामने हों तब? गोस्वामीजी ने यही संकेत किया। अगर कैकेयीजी की कुटिलता के बदले में भगवान राम के मन में भी यही वृत्ति आ जाती और वे घोषणा कर देते — नहीं नहीं, ऐसा अन्याय और अधर्म मैं नहीं होने दूँगा। मैं तो अयोध्या के सिंहासन पर बैठूँगा ही, क्योंकि पिताजी मुझे वचन दे चुके हैं। तब तो यह परस्पर स्वार्थपरता का युद्ध होता। किन्तु यहाँ पर गोस्वामीजी ने कहा कि भगवान श्री राघवेन्द्र सरलता के मूर्तिमान रूप हैं। और उनके चरित्र की यह सरलता ही समस्त प्रकार के दुःखों का समाधान है। अयोध्या में कर्मजन्य दुःख, गुणजन्य दुःख और स्वभावजन्य दुःख तो था ही और अब अन्त में जब महाराज दशरथ देहत्याग कर देते हैं, तब यह कालजन्य दुःख भी समाज में उमड़ पड़ा। लेकिन भगवान राम की सरलता और श्री भरत जैसे सन्त की साधुवृत्ति ने उस रोगग्रस्त समाज को स्वस्थ बनाकर उस दुःख से उबार लिया, सुख का संचार कर दिया। और जब समाज स्वस्थ हो गया तब रामराज्य बना। रामचरितमानस में कैकेयी-मन्थरा और श्रीराम-भरत के चरित्र के माध्यम से इस ओर संकेत किया गया कि मन के रोग किस तरह उत्पन्न होकर समाज में फैलते जाते हैं और ईश्वर तथा सन्त के द्वारा उनका कैसे निराकरण होता है। तब समाज स्वस्थ व सुखी होता है और इस प्रकार रामराज्य की स्थापना हो जाती है। (क्रमशः)

□

स्वामी विवेकानन्द का जन्म स्थान

एक अपील

यह एक राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की बात है कि स्वामी विवेकानन्द ने कलकत्ते के जिस मकान में जन्म लिया था, उसका जीर्णोद्धार करके, उनके बाल्यकाल की स्मृतियों को एक सुयोग्य स्मारक का रूप दिया जाय। कालान्तर में उनका पैतृक आवास अनेक छोटे-छोटे मकानों में विभाजित हो गया था और उसकी खण्डहरनुमा हालत में आज भी उसमें अनेक किरायेदार परिवारों का निवास है। १९६३ ई. से ही निरन्तर प्रयास के फलस्वरूप इन मकानों के अधिग्रहण की कानूनी प्रक्रिया में काफी प्रगति हुई है। तथापि वर्तमान किरायेदारों को वैकल्पिक निवास-स्थान उपलब्ध कराने तथा उस स्थान पर एक उपयुक्त विवेकानन्द-स्मारक तथा सांस्कृतिक केन्द्र बनाने के लिए उन टूटे-फूटे भवनों के जीर्णोद्धार की आवश्यकता है। इस कार्य में अब तक हम ९० लाख रुपये खर्च कर चुके हैं, तथापि इस कार्य को आगे बढ़ाने के लिए तत्काल विशाल धनराशि की जरूरत होगी।

अतः स्वामी विवेकानन्द के आप सभी अनुरागियों से हमारी अपील है कि इस महान कार्य में आप उदारतापूर्वक दान करें। उपरोक्त कार्य का उल्लेख करते हुए छोटी या बड़ी सहयोग राशि "रामकृष्ण मिशन" के नाम से धनादेश या एकाउन्ट पेयी चेक/ड्राफ्ट के द्वारा हमारे पास भेजी जा सकती है। यह दानराशि आयकर अधिनियम की धारा ८० जी. के अन्तर्गत करमुक्त होगी।

पो. बेलुड मठ
जि. हावड़ा (प. बंगाल)
दि. १२ जनवरी, १९९९ ई.

स्वामी आत्मस्थानन्द
महासचिव
रामकृष्ण मिशन

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

शचीन्द्रनाथ बसु

(लेखक मिदनापुर जिले में स्थित महिषादल स्टेट के व्यवस्थापक थे। उन्होंने अपने बाल्यबन्धु चारुचन्द्र मित्र (बाद में स्वामी शुभानन्द) को जो पत्र लिखे थे, उन्हीं के संकलित अंशों से इस संस्मरणात्मक लेख का निर्माण हुआ है। इसमें स्वामीजी के चरित्र की एक अन्तरंग झलक दिख पड़ती है। मूलतः यह लेख बँगला मासिक 'उद्‌बोधन' के वर्ष ५५ अंक १, ३ तथा ४ में प्रकाशित होकर बाद में 'स्मृतिर आलोय स्वामीजी' नामक ग्रन्थ में संकलित हुआ। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिये इसका हिन्दी अनुवाद हम प्रस्तुत कर रहे हैं। - सं.)

बेलुड़ — क़िराए का मठ-भवन
नवम्बर, १८९८ ई.

स्वामीजी ऊपर से उतरे। कुछ दिन पूर्व ही वे काश्मीर से लौटे हैं। चेहरा काफी साँवला हो गया है। मैंने प्रणाम किया।

हास्यपूर्वक उन्होंने पूछा, "क्या शचीन, अच्छे तो हो न?" कान में यह आवाज वीणाध्वनि-सी लगी। वे मन्दिर की ओर चले गये। उनकी एक चाची तथा बचपन में उनकी देखरेख करनेवाली एक सेविका उनसे मिलने आयी हैं। काफी देर तक उनके साथ वार्तालाप करने के बाद स्वामीजी हॉल में आये। बात-बात में वाराणसी का प्रसंग उठा। स्वामीजी मुझसे वहाँ की सब छोटी-मोटी बातें भी पूछने लगे। उनकी पूर्वी बंगाल जाने की खूब इच्छा है। कामाख्या जाएँगे। वे ब्रह्मपुत्र के दृश्य देखना चाहते हैं। उसके दोनों तटों पर पर्वत-श्रेणियाँ कैसी मेघमाला के समान दिख पड़ती है -- इसका अवलोकन करने की उनकी कामना है। मैंने उसका कुछ कुछ वर्णन किया। स्वामीजी ने मेरे साथ अत्यन्त सहृदयता का व्यवहार किया। बोले, "अब भाषण-वाषण नहीं दूँगा। अब शोरगुल करने की जरूरत नहीं है भाई, चुपचाप धीर-स्थिर भाव से कार्य चलता रहे, बस।"

इसके बाद हरि महाराज के आ जाने पर मैंने काश्मीर की बातें पूछीं। स्वामीजी बीच-बीच में खूब आवेगपूर्ण वर्णन करने लगे। उनका हिमनदी का वर्णन अतीव हृदयग्राही लगा। तदनन्तर अमरनाथ के बारे में बोलते हुए उनके

विशाल नेत्रों में लालिमा छा गयी। लार्ड लैन्सडाउन ने भी काश्मीर के बारे में अपना मत दिया है, उसका उल्लेख करने पर स्वामीजी बोले, "बिल्कुल सही है। स्विट्जरलैण्ड में जो सर्वाधिक आकर्षक दृश्य मिलता है, उसे देखने की लिए अल्मोड़ा से आगे जाने की आवश्यकता नहीं। अल्मोड़ा में ही वह सब मिल जाएगा। और काश्मीर की तो तुलना ही नहीं।" इसके बाद वे बताने लगे कि अमरनाथ में कैसे उनमें स्तुति का भाव आने लगा था। यह भी बताया कि तुषारराशि देखकर उन्हें कैसा अभूतपूर्व आनन्द हुआ था। वे बोले, "कह नहीं सकता कि ईश्वर हैं या नहीं, परन्तु निर्गुण ब्रह्म हैं, और देवी-देवता भी हैं — यह मैं निश्चित रूप से समझ गया हूँ।"

एक वृद्ध सेवक आ पहुँचे — वे स्वामीजी को स्कूल ले जाया करते थे। उन्हें चार रुपये दिये गये।

अपराह्न के समय हम निर्माणाधीन नवीन मठ में घूमने गये। जमीन के पश्चिमी ओर आखिरी छोर तक लोहे की बाड़ लगाई गई है। दो-तीन झोपड़ियाँ भी बनी हैं। लकड़ी का काम चल रहा है। अद्वैतानन्द जी ने बैगन, भिण्डी, कुम्हड़े आदि के पौधे लगा दिये हैं। जो मकान बन गये हैं, वे प्रायः अच्छे ही हुए हैं। मन्दिर तथा रसोईघर के लिए पश्चिम की ओर एक अलग दुमंजला भवन बन रहा है। हरिप्रसन्न महाराज (स्वामी विज्ञानानन्द) दिन-रात लगे रहते हैं। स्वामीजी के साथ भवन के ऊपर गया। थोड़ी देर बाद स्वामीजी गंगा की ओर देखते हुए, "वाचामगोचरमनेक गुणस्वरूपं ... वाराणसीपुरपतिं भज विश्वनाथम्" — गाने लगे। इसी प्रकार सन्ध्या हो गई और मैं शरत् चक्रवर्ती के साथ नाव में लौट आया।

एक दिन मैं बागबाजार गया। स्वामीजी बलराम बाबू के मकान की छत पर हाबुल के साथ टहल रहे थे। हाबुल बहुत अच्छी बाँसुरी बजाता है, ठाकुर का भक्त है, काकुड़गाछी के उत्सव में बाँसुरी बजाया करता है। वह शायद दूर के सम्बन्ध से स्वामीजी का भाई लगता है। ... स्वामीजी नीचे उतरकर उसे हॉल में ले आये। लगभग ढाई घण्टे बीत गये। डॉक्टर उन्हें देखने आये थे।

हाबुल के साथ लौटते हुए रास्ते में बहुत-सी बातें हुईं। उसने बताया कि स्वामीजी ने उसके जीवन में बहुत सा परिवर्तन ला दिया था। ... स्वामीजी ने

उसे कहा था, "दादा, बंगाली को क्या वैराग्य होगा? भोग ही तो नहीं कर सका; दो-चार लाख रुपये पर बैठ ही नहीं सका। ... फिर वैराग्य कैसे होगा? जर्मनी का भोग पूरा हो चुका है; अब जर्मनी को वैराग्य होगा; उसके बाद अमेरिका, इंग्लैण्ड की बारी आयेगी।"

हाबुल ने बताया, स्वामीजी ने उससे कहा था, "दादा, परमहंसदेव ने तुम्हें जो निर्देश दिये हैं, वही किये जाओ; योग-वोग के चक्कर में मत भटकना (हाबुल शायद योग सीखने के प्रयास में था), प्राणायाम की क्रिया अपने आप हो जायेगी। हाबुल ने स्वामीजी से पूछा था, "भाई स्वामीजी, अमरनाथ के मार्ग में तुम्हें कैसा आनन्द मिला?" स्वामीजी ने कहा था, "दादा, बड़ा शानदार लगा। वहाँ से लौटने के बाद से ही मेरे प्राण शान्ति के लिए बड़े आकुल हैं। अब (कर्म) अच्छा नहीं लगता — बिल्कुल चुप बैठने की इच्छा होती है। एक गुफा में बैठने से ही मैं सन्तुष्ट होऊँगा। आठ दिन आठ रात अमरनाथ महादेव मेरे सिर पर सवार थे। सिर पर बैठकर वे खूब हँसते थे। मैंने कहा, 'बाबा, मेरे शरीर में रोग-भोग हो रहा है और तुम हँस रहे हो? गुरु महाराज की जिस मूर्ति ने पहले मुझे दर्शन देकर अमेरिका जाने का आदेश दिया था, इस बार भी उसी मूर्ति ने आकर मुझे अमरनाथ जाने का आदेश दिया था। इसीलिए मैं गया था। ..."

सोमवार, ६ नवम्बर १८९८ ई.

अपराह्न के डेढ़ बजे थे। बागबाजार पहुँचकर मैंने देखा कि राखाल महाराज बैठे तम्बाकू पी रहे हैं। वे बोले, "स्वामीजी अभी अभी पाँच-सात मिनट पूर्व विदेशी भक्तिनों के साथ मठ गये है।" ठाकुर की कृपा से उसी समय एक नाव मिल गई। एक घण्टे के भीतर ही मैं भी मठ जा पहुँचा। स्वामीजी की नाव बीस मिनट पहले पहुँची थी; वे लोग पहुँचते ही मठ की नई जमीन देखने गये थे। चार बजे स्वामीजी श्रीमती बुल, कु. मैक्लाउड आदि के साथ लौटे। महिलाएँ नवीन मठ देखकर अतीव आनन्दित थीं। बुल और मैक्लाउड २ दिसम्बर को अमेरिका के लिए प्रस्थान करनेवाली हैं। स्वामीजी भी चार-पाँच माह बाद लन्दन होते हुए जाएँगे। स्वामीजी के साथ एक नाव में भ्रमण हुआ। उन्होंने ही मुझे बुला लिया था। नाव में हम केवल पाँच लोग थे। महिलाएँ स्वामीजी के साथ विभिन्न विषयों पर चर्चा कर रही थीं। सन्ध्या के समय हम घाट पर पहुँचे।

श्रीमती बुल आदि चितपुर से ट्राम में सवार हुईं — वे एक्सप्लेनेड के किसी बोर्डिंग-हाउस में ठहरी हैं। स्वामीजी और मैं बागबाजार चले आए। डॉक्टर आर.एल. दत्त की चिकित्सा के फलस्वरूप उनका स्वास्थ्य काफी सुधरा है; मिताहार से उन्हें काफी लाभ हुआ। वे लौटकर (बलराम-भवन के) हॉल में बैठे, हम लोग भी बैठे — केवल राखाल महाराज और मैं। परन्तु बाद में शरत चक्रवर्ती भी आया। विविध प्रकार की बातें चल रही थीं कि उसी समय शारदा महाराज (स्वामी त्रिगुणातीत) भी लड़खड़ाते हुए आ पहुँचे — उन्हें बुखार है।

स्वामीजी जब अल्मोड़ा में थे, तभी से त्रिगुणातीत महाराज उन्हें लगातार पत्र लिख रहे थे — भाई, मैं काम करूँगा। तुम मुझे दो हजार रुपये दो। मैं प्रेस लगाऊँगा, कार्य आरम्भ करूँगा। स्वामीजी ने उन्हें एक हजार रुपये दिये हैं, बाकी एक हजार उधार लिए हैं। महीने में दस रुपये सूद लगते हैं। पन्द्रह सौ रुपये लगाकर उन्होंने दो अच्छे प्रेस खरीदे हैं, परन्तु खरीदने मात्र से क्या होगा? कोई काम नहीं है। चुपचाप बैठे हैं। बड़ाबाजार में आठ रुपये भाड़े पर एक गोदाम में मशीनें रखी गयी हैं। सुधीर द्वारा बँगला में अनुवादित स्वामीजी का "राजयोग" ग्रन्थ छपाने का संकल्प हुआ है, परन्तु कागज खरीदने को पैसे नहीं हैं। मैंने एक बार त्रिगुणातीत महाराज से कहा था, "महाराज, वह (प्रेस का) काम बड़ा खराब है, आपका काम नहीं है। दूसरे लोगों को करना चाहिए।' उस समय बड़ा उत्साह था, बोले, "नहीं, हर कार्य पवित्र है। काम पाकर मुझे आनन्द होता है, काम से मुझको आपत्ति नहीं है।" मैं मौन रह गया। अब वे प्रतिदिन सुबह छह बजे प्रेस जाते हैं, वहीं खाना-पीना होता है और रात को सात बजे के बाद लौटते हैं। हर रोज सन्ध्या के बाद उन्हें बुखार आती है।

स्वामीजी और राखाल महाराज ने एक साथ त्रिगुणातीत का स्वागत किया — "आओ बाबाजी, आज का क्या समाचार है? प्रेस का काम कहाँ तक हुआ? बैठकर बताओ।"

त्रिगुणातीत — (हाँफते हुए अनुनासिक स्वर में) — "अँब तों भाईं, मुँझसें नहीं होंता — यँह सँब काँम क्यौं हँम लोंगों कों जमताँ हैं भाँईं? ... दिन भर तीर्थ के कौए के समान बैठे रहना पड़ता है; कुछ काम-धाम आता नहीं । एक जाब वर्क (छपाई का काम) मिला है, पर उससे क्या होगा? बहुत हुआ तो आठ

आने मिल जायेंगे। मैं प्रेस को बेच डालने के प्रयास में हूँ।"

स्वामीजी – "कहता क्या है रे? बस इतने में ही तेरा सारा शौक मिट गया। कुछ दिन और देख ले, तभी छोड़ना। इधर ही – कुमार टोली के पास प्रेस को ले आ न; हम सभी देख लेंगे।"

त्रिगुणातीत – "नहीं भाई, वहीं रहे। दो-चार दिन देखा जाय। फिर १५-२० रुपये नुकसान उठाकर बेच दूँगा।"

स्वामीजी – "अरे राखाल, यह क्या कह रहा है? देखता हूँ इसे बड़ी परेशानी हो रही है। इतने में ही तेरा सब समाप्त हो गया। धैर्य चुक गया।"

इन बातों के साथ ही स्वामीजी की आँखों से ज्वाला निकलने लगी। नींद से उत्थित सिंह की भाँति वे उठ बैठे और गरज कर बोले, "कहता क्या है? बेच डाल प्रेस को। मुझे रुपयों की बड़ी जरूरत है। इसी घड़ी बेच दे। १००-१५० रुपये नुकसान उठाकर भी बेच डाल। ... काम की बात उठते ही इन लोगों का सारा वैराग्य जाग उठता है – 'भाँई, औंर नहीं होंता - यँह सँब काँम क्याँ हँम लोगों का है?' केवल खा-पीकर तोंद ऊपर करके सो सकता है। जिनका किसी कार्य में धैर्य नहीं, वे भी क्या मनुष्य हैं? .... प्रेस लगाये हुए अभी दो-चार दिन भी तो हुए नहीं। जा जा, तुझे लेकर काफी प्रयोग हो चुका – तुझे ही तो बड़ा विश्वास था। किसने तुझे प्रेस लगाने को प्रेरित किया था? तुम्हीं ने तो लिख-लिखकर मुझसे पैसे मँगाए। यहीं पर ले आ न तू अपना प्रेस, वहाँ रखने का तेरा क्या मतलब है? और फिर तुझे ज्वर भी लगा रहता है, तू शरीर की परवाह ही नहीं करता।"

त्रिगुणातीत – "भाड़े के आठ रुपये देने पड़ेंगे। एक महीने का एग्रीमेण्ट हुआ है।"

स्वामीजी – "छी-छी, यह भी भला कोई बात है! ऐसे लोग भी क्या कोई काम कर सकते हैं? आठ रुपये के लिए पड़ा हुआ है? तुम लोगों की यह क्षुद्रता कैसे भी नहीं जाएगी। तू और हरमोहन एक समान है। तुम लोगों से कभी कोई व्यवसाय नहीं होगा – वह भी एक पैसे का आलू खरीदने के लिए पचास दुकान घूमेगा और अखिरकार ठगाकर मरेगा। ... प्रेस को हमारे मठ में पहुँचा दे, हम

लोगों को भी तो एक प्रेस चाहिए। देख, मैंने कितने व्याख्यान दिये हैं, कितना कुछ लिखा है; उसका आधा भी तो अभी नहीं छपा है। तू मुझे काम दिखा रहा है? राखाल, याद करो, कितने दिन पहले की बात है – बारह-तेरह वर्ष हो गये होंगे – वहीं गंगा के किनारे बैठकर हम कुछ लोग उनकी (श्रीरामकृष्ण) चिताभस्म लेकर रो रहे थे। मैंने कहा था – उनकी अस्थियाँ गंगा के किनारे रखना उचित है, गंगा के किनारे मन्दिर बनना चाहिए; क्योंकि उनका गंगातट से बड़ा लगाव था। ... पर मेरी बात नहीं सुनी। उनका चिताभस्म ले जाकर काँकुड़गाछी के उद्यान में रखा। इससे मेरे हृदय को बड़ी पीड़ा हुई थी। राखाल, याद करो मैंने कैसी दृढ़ प्रतिज्ञा की थी। पिछले बारह वर्षों से उस विचार को लिए मैं बुलडाग की तरह सारी दुनिया घूमता रहा; एक दिन भी सोया नहीं। आज देखो, मैंने उसे रूपायित कर दिया है। उस विचार ने मुझे एक दिन के लिए भी नहीं छोड़ा। ... इस श्रेणी के लोगों की भी क्या उन्नति होगी?''

त्रिगुणातीत – ''भाई, तुम्हारा Brain (मस्तिष्क) कैसा है! तुम मुझे अपना मस्तिष्क दे सकोगे?''

इस बात पर हँसी का फुहारा छूट पड़ा, क्योंकि बोलने का ढंग ही ऐसा था। बाद में त्रिगुणातीत ने बताया कि इस ज्वर के बाद सुबह उन्होंने केवल थोड़ा-सा साबूदाना खाया है और इस जून एक सेर रबड़ी तथा सब्जी के साथ आधे सेर कचौड़ियों का भोजन कर आये हैं। यह सुनकर स्वामीजी ठहाके के साथ हँस पड़े और बोले, ''साला, जरा अपना पेट तो मुझे दे दे – दुनिया का रूप ही बिल्कुल बदलकर रख दूँ। लाहौर में सूरजलाल ने कहा था, 'स्वामीजी, आप में नानक का मस्तिष्क और गुरु गोविन्द का हृदय आ गया है – केवल जगमोहन (खेतड़ी के दीवान) के समान पेट की ही आवश्यकता है।''

सोमवार, ६ नवम्बर १८९७ ई.

कलकत्ता के बागबाजार में बलराम बसु के घर सन्ध्या के बाद स्वामीजी और राखाल महाराज वार्तालाप कर रहे थे।

स्वामीजी – ''देखो राखाल, पहले मैं सोचता था कि बाल विवाह अच्छा है, इसमें बचपन से ही परिचय एवं प्रीति का भाव प्रगाढ़ हो जाता है। अब

मेरी वह गलतफहमी दूर हो गई है, क्योंकि उस प्रथा का सिद्धान्त ही उचित नहीं है। जो सम्बन्ध गुलामी के उपर आधारित हो, वह क्या कभी अच्छा हो सकता है? जहाँ महिलाओं को स्वाधीनता नहीं, वह जाति कभी उन्नति नहीं कर सकती। इस देश में जितने भी नियम, जितना भी प्रेम, जितनी भी स्मृतियाँ हैं, सब महिलाओं को दबाकर रखने के लिए बनी हैं। अहा, बोलते हुए मेरा शरीर सिहर उठता है — पिछले दो हजार वर्षों से यह देश जगदम्बा का अपमान करता रहा है; उसी के पाप से तो इतना कष्ट उठाना पड़ रहा है, तो भी चेतना नहीं आती। यदि भला चाहो, तो अब जगदम्बा का अपमान मत करना, यदि बात न सुनो, तो पदाघात खाते रहोगे! रूस आयेगा, जर्मनी आयेगा, राष्ट्र पर राष्ट्र आयेंगे और तुम अनन्त काल तक पदाक्रान्त होते रहोगे। लोगों के मन में सतीत्व की एक भ्रान्त धारणा घर कर गई है, जो घोर स्वार्थपरता की अभिव्यक्ति को छोड़ और कुछ नहीं है।''

मैं — क्यों महाराज, उनके देश में तो स्वाधीनता है, तो भी वहाँ इतना व्याभिचार क्यों है?

स्वामीजी — मैं कब कहता हूँ कि उनके देश में सब अच्छा है? तो भी उनके देश में इतनी पाशविकता नहीं है, उसी के बीच एक तरह का कवित्व है। तू भी कैसा बालक है! बोल तो, कौन-सा देश अच्छा है! ... अब थोड़ा चुप रह, तो, सब ठीक हो जायेगा। भाई, सती सती कहकर तुम बहुत चिल्ला चुके, हजारों विधवाओं को बाँस से ढकेलकर जला चुके। अब इसे बन्द करके कुछ लोग 'सता' होकर दिखाओ तो जानूँ। ... जितनी खराबी है, जितने दोष हैं, सब नारी के हैं; जितना काम है, आसक्ति है, सब नारी का है — यही न? ... मिथ्याचार एवं स्वार्थ की प्रतिमूर्ति! छोड़ दे जगदम्बा का अपमान और देश अभी द्रुत वेग से उठ जायेगा। .... राम! राम! आज विवाह का मतलब है एक नारी को चिरकाल के लिए गुलाम या बाँदी बनाकर रखना। ... उनके लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं। हजारों वर्ष से ऐसे ही रहते रहते उन्होंने सोच लिया है - हमारी नियति में यही लिखा है। ... राखाल, उनके देश में अब भी कवित्व है। ... और देखो न, ये सब महिलाएँ जो यहाँ आई हैं; इनमें से किसी को मैं माँ कहता हूँ, किसी को बहन के रूप में देखता हूँ — क्या इनमें कभी

एक दिन के लिए भी कोई कुभाव आता है? सतीत्व! सतीत्व! इसका और क्या तात्पर्य है — स्त्री मेरी भोग्या है, मैं यथेच्छा भोग करूँगा!

मंगलवार, ७ नवम्बर

अगले दिन मैंने जाकर देखा कि स्वामीजी बैठे हुए हैं। ... वे कह रहे थे — बंगाल में जैसी सब्जी बनती है, वैसी अन्यत्र कहीं भी नहीं है; पर हाँ, उत्तर पश्चिम में — राजपूताना में भोजन की अच्छी व्यवस्था है।

मैं — महाराज, वे लोग भी क्या खाना जानते है? हर सब्जी में खटाई!

स्वामीजी — तू बच्चों की जैसे बातें कर रहा है। दो-चार लोगों को लेकर ही क्या तू पूरी जाति के विषय में निष्कर्ष पर पहुँच जायेगा? सभ्यता तो उन्हीं लोगों के देश में थी — बंगाल में क्या वह किसी काल में थी? उस अंचल के बड़े लोगों के घर में खाओ, तो तुम्हारा भ्रम दूर हो जायेगा। ... और तुम्हारा पुलाव भी क्या है? बहुत पहले ही 'पाक-राज्येश्वर' ग्रन्थ में पलान्न का उल्लेख मिलता है; मुसलमानों ने हमारी नकल की है। अकबर के 'आइन-ए-अकबरी' में सविस्तार वर्णन है कि हिन्दुओं का पलान्न आदि किस प्रकार पकाया जाता है और बंगाल में सभ्यता ही भला कब हुई? मैं तुम लोगों से सर्वदा कहता हूँ — कन्याकुमारी से अल्मोड़ा तक यदि एक सीधी रेखा खींची जाय, तो इसका पूर्वी भाग बिल्कुल अनार्य है, असभ्य है, रंग भी काले भूतों जैसा, फिर वेदविरोधी, परदा प्रथा, विधावाओं को जलाना आदि अनार्य प्रथाएँ, कुलगुरु की परम्परा है। और पश्चिम की ओर देखो तो सभ्य, आर्य, पौरुषयुक्त — कैसे आश्चर्य की बात है! ... पश्चिमी भाग के पुरुष सब सुन्दर, स्त्रियाँ सब रूपवती — गाँव सब स्वच्छता के नमूने, बड़े स्वास्थ्यकर तथा समृद्ध हैं। धर्म भी देखो तो बंगाल में कुछ नहीं हैं। यहाँ कितने त्यागियों ने जन्म लिया है?

मिस नोबल (भगिनी निवेदिता) स्वामीजी के साथ २० जून (१८९९ ई.) को गोलकुण्डा जहाज पर सवार होकर यूरोप गयीं। मैं उस समय प्रिंसेप घाट पर उपस्थित था। वे मठ के संन्यासियों की काफी प्रशंसा अर्जित कर गयी हैं। उनका अन्तिम व्याख्यान कालीघाट पर माँ के नाट्य-मन्दिर में हुआ। ऐसा निश्चित हुआ था कि स्वामीजी इस (काली-विषयक) व्याख्यान की अध्यक्षता

करेंगे, हालदार-लोग इसके लिए विशेष रूप से प्रयासी थे। उस समय स्वामीजी के प्रति उन लोगों में विशेष श्रद्धा उमड़ी थी। कारण यह था कि इसके एक सप्ताह पूर्व सहसा स्वामीजी के मन में कालीघाट स्थित माँ के मन्दिर में जाने की इच्छा हुई थी और वे दो-तीन महाराजों तथा मिस नोबल के साथ वहाँ गये। हालदारों ने बड़े सम्मानपूर्वक उनका स्वागत किया। माँ के मन्दिर के द्वार खुले थे। माँ का प्रसन्न मुखमण्डल देखकर विवेकानन्द के हृदय का भावसागर आन्दोलित हो उठा था। वेदान्त का कठोर आवरण भेदकर उनकी भावराशि वेगपूर्वक अभिव्यक्त होने लगी। कुछ देर बाद उनका धैर्य जाता रहा — दोनों विशाल नेत्र आरक्त हो गये, छल-छलकर प्रेमाश्रु की धारा प्रवाहित हो उठी थी और इसके साथ ही उनके कमनीय कण्ठ से सहज सुन्दर स्तव निःस्रित होने लगे थे; हृदय आनन्द से परिपूर्ण था — उन्होंने अञ्जलि भरकर चन्दनचर्चित जवाकुसुम माँ के पादपद्मों में अर्पित किये और सबसे ऐसा ही करने को कहा। कालीघाट के सभी निवासी उनका भाव देखकर विस्मित हो गये नये।

इसके बाद यह निश्चित हुआ कि मिस नोबल वहाँ व्याख्यान देंगी। निर्धारित दिवस पर लोग टूट पड़ने लगे — स्वामीजी को देखने और सुनने के लिए। मैं भी गया था, मानिक दादा भी गये थे; परन्तु जब यह समाचार आया कि स्वामीजी अस्वस्थता के कारण नहीं आ सकेंगे, तो सभी अत्यन्त निराश हुए। अस्तु, ठीक छह बजे मिस नोबॅल नंगे-पाँव नाट्य-मन्दिर में आयीं और लगभग आधे घण्टे तक बोलीं। व्याख्यान के पश्चात् सबने उन्हें खूब साधुवाद दिया।

सुना है कि मिस नोबल में बड़ी तितिक्षा है – मांस-मछली नहीं खातीं। एक या दो पावरोटी तथा फल-मूल आदि खाकर ही जीवन-धारण करती हैं। श्री माताजी के प्रति उनकी बड़ी भक्ति है। धन के अभाव में उनका स्कूल बिल्कुल भी नहीं चल रहा है। सुना है कि इस बार वे धन-संग्रह करने के उद्देश्य से ही बिलायत जा रही है।

मठ की उज्ज्वलतम ज्योति कुछ दिनों के लिए लुप्त हो गयी है — बेलुड़ मठ बिल्कुल श्रीहीन हो गया है। जाने के पूर्व दिन मठ में स्वामीजी का व्याख्यान हुआ। सुनकर सबकी धमनियों में उष्ण रक्त प्रवाहित हो उठा था। और नहीं

तो क्षण भर के लिए ही सबको बोध हुआ कि हम मनुष्यं हैं। स्वामीजी ने खूब उत्साहपूर्वक कहा, "बच्चो, तुम लोग मनुष्य बनो — मैं यही चाहता हूँ। इसमें थोड़ी-सी भी सफलता मिले, तो मेरा जन्म सार्थक होगा।" सबको बोले, "तुम लोगों से अधिक और क्या कहूँ? तुम सभी उन्हीं महापुरुष (श्रीरामकृष्णदेव) के पदचिह्नों का अनुसरण करने के प्रयास में लग जाओ — जीवन में कर्म तथा वैराग्य का समायोजन करो।"

इसके परवर्ती दिन वे कलकत्ता आये। निश्चित हुआ कि वे तीन बजे प्रिन्सेप घाट जायेंगे। बात हो रही थी कि उनके लिए कोई गाड़ी मिल जाय तो अच्छा हो — कुछ ठीक नहीं हो पाया। सौभाग्यवश मैंने गर्ग (महिषादल के राजा) के ब्रूह्म तथा अरब के जोड़े श्यामबाजार के अस्तबल से मँगा लिए थे। स्वामीजी कृपा करके उसी में गये। स्वामीजी ने समुद्रयात्रा के लिए पोषाक बदल ली – आसाम सिल्क का कोट, १०-१२ रुपयों का केबिन-शू तथा नाइट कैप; हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) के लिए भी यही व्यवस्था हुई थी। सच कहूँ तो वे स्वस्थ नहीं दिख रहे थे। घाट पर प्लेग की जाँच – खूब कड़ी जाँच हुई। लगभग ४०-५० जन एकत्र थे। पाँच बजे लांच आया। हमारे नयनाभिराम स्वामीजी जहाज पर चढ़े और सबसे विदा ली। हरि महाराज के मुख का भाव बड़ा गम्भीर था। मठ के सभी लोग वहाँ उपस्थित थे। गंगाधर महाराज (स्वामी अखण्डानन्द) महुला से आये थे। लांच छूटते समय सबके नेत्र छलछला आये — किसी किसी के नेत्र तो आँसुओं से परिपूर्ण हो गये। तत्पश्चात् उन पचास लोगों ने स्वामीजी के प्रति साष्टांग प्रणाम किया। गंगातट पर वह दृश्य बड़ा ही सुन्दर दिख रहा था। अन्यान्य साहब लोग अवाक् होकर देख रहे थे। उन तीनों के लिए ही प्रथम श्रेणी का टिकट था। क्रमशः लांच ने प्रस्थान किया। जब तक वह दिखता रहा सभी रूमाल आदि हिलाते रहे। लांच के अदृश्य हो जाने पर सभी वापसी के लिए गाड़ी में सवार हुए। सबके चेहरे पर विषाद था — जैसा कि विजया-दशमी के दिवस प्रतिमा का विसर्जन करके होता है।

□

श्रीरामकृष्ण मठ
मयलापुर,
मद्रास - ६०००0४

स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा से १८९७ ई० में इस मठ की स्थापना हुई। अगले वर्ष यह अपने बहुमुखी सेवाकार्यों की शताब्दी मनाने जा रहा है। भक्तों एवं अनुरागियों की बहुत दिनों से इच्छा के रूपायन हेतु इस मठ में श्रीरामकृष्ण का एक भव्य मन्दिर बनाने का कार्य आरम्भ हुआ है। समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण का जीवन तथा सन्देश जैसे वर्तमान युग के सभी धर्मों के अनुयायियों के लिये प्रेरणाकेन्द्र है, वैसे ही उनका यह मन्दिर भी एक सार्वभौमिक उपासना का स्थान होगा।

श्रीरामकृष्ण के अन्य मन्दिरों तथा परम्परागत दक्षिण भारतीय स्थापत्य के सम्मिश्रण मे बन रहे इस मन्दिर में लगभग १००० भक्त एक साथ बैठकर प्रार्थना तथा ध्यान कर सकेंगे। ग्रैनाइट पत्थर से बननेवाले इस मन्दिर पर लगभग चार करोड़ रुपयों की लागत आयेगी।

रामकृष्ण संघ के वर्तमान अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने १ दिसम्बर, १९९४ ई० को मन्दिर की आधारशिला रखी। निर्माण-कार्य आरम्भ हो चुका है और सन्तोषजनक रूप से प्रगति पर है।

इस विराट् पुनीत कार्य में समाज के सभी स्तर के लोगों की शुभेच्छा तथा सहयोग की अपेक्षा है। उदारतापूर्वक दान के द्वारा इस परियोजना में हाथ बँटाने के लिए हम आप सभी को आमंत्रित करते हैं। आपका दान कृतज्ञता के साथ स्वीकृत एवं सूचित किया जायगा। रेखांकित चेक या ड्राफ्ट 'RAMAKRISHNA MATH, MADRAS' के नाम से बनवाकर भेजे जा सकते हैं। ये दान धारा ८०- G के अन्तर्गत आयकर से मुक्त होंगे।

स्वामी गौतमानन्द
अध्यक्ष

सम्पर्कसूत्र : श्री रामकृष्ण मठ, मयलापुर, मद्रास-4
Phone : 494 1959; Fax · 493 4589

एकाग्रता का रहस्य

स्वामी पुरुषोत्तमानन्द

(एकाग्रता ही शिक्षा की उपलब्धि का प्रथम तथा प्रधान माध्यम है और यह प्रश्न बहुत से छात्रों के मन को आन्दोलित करता रहता है कि आखिर इस एकाग्रता को बढ़ाया कैसे जाय! सुविज्ञ लेखक ने अपनी एक छोटी-सी पुस्तिका में इसी के कुछ रहस्यों का उद्घाटन किया है। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिए इस महत्वपूर्ण प्रबन्ध का आंग्ल भाषा से अनुवाद किया है चाम्पा के श्री प्रदीप नारायण शर्मा तथा एस. के. पाढ़ी ने -- सं.)

एकाग्रता में ही सफलता का सारा रहस्य निहित है -- इस बात को समझ लेनेवाले सचमुच ही बुद्धिमान हैं। एकाग्रता को केवल योगियों के लिए ही आवश्यक समझना एक बड़ी भूल है। एकाग्रता प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है, भले ही वह किसी भी कार्य में क्यों न लगा हो। देखने में आता है कि लौहकारों, नाइयों, स्वर्णकारों तथा जुलाहों में सहज रूप से ही एकाग्रता विकसित हो जाती है। हथौड़ा चलाते समय लोहार यदि जरा-सा भी चूक जाय, तो सम्भव है कि वह अपने ही हाथों को कुचल डाले; नाई का उस्तरा यदि गल्ती से फिसल जाय, तो त्वचा में घाव हो जाने की आशंका है; यदि बढ़ई की पकड़ छीनी से ढीली पड़ी, तो हो सकता है कि वह अपने अंगूठे से ही हाथ धो बैठे। इसी प्रकार सुनार का कार्य भी निःसन्देह अत्यन्त जटिल है। बुनकर यदि अपने करघे पर दृष्टि स्थिर रखे, तभी वह अच्छी गुणवत्ता वाले कपड़े बुन सकता है। परन्तु इनमें से कोई भी व्याख्यान सुनकर या पुस्तकों की सहायता से एकाग्रता का अभ्यास नहीं करता। उनके कार्यों के आवश्यकता के अनुसार उत्पन्न परिस्थितियों ने ही उनमें एकाग्रता का विकास कर दिया है। वे कौन-सी परिस्थितियाँ है? यह कि उनके कार्य में जरा-सी भी चूक उनके लिए एक भयानक दुर्घटना का कारण बन सकती है। ऊपरोक्त सभी कार्यों में जोखिम बना ही रहता है, इसी कारण उन्हें अपने मन को संयमित कर बड़ी सावधानीपूर्वक कार्य करना पड़ता है। इस प्रकार वे अपने व्यवसायिक कार्य में एक प्रकार की एकाग्रता प्राप्त कर लेते हैं। इतना ही नहीं, ऐसे असंख्य उदाहरण है, जिसमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी ऐसी एकाग्रता देखने को मिलती है। उदाहरणार्थ, आई.टी.आई. में शिल्पविद्या सीख रहे प्रशिक्षणार्थियों में यदि कोई लोहार का लड़का है, तो वह अन्य लड़कों की अपेक्षा शीघ्र इस कला में निपुण हो जाता है। अन्य दूसरे पेशों में भी ऐसा ही होता है, यह बहुत ही कम देखा गया है कि कोई व्यक्ति

किसी नये कार्य में शीघ्र दक्षता प्राप्त कर ले। इन निरीक्षणों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एकाग्रता निरन्तर प्रयास के द्वारा ही प्राप्त की जाती है। अर्जुन के प्रश्न पर भगवान श्रीकृष्ण का यही उत्तर था कि 'अभ्यास से ही पूर्णता की उपलब्धि होती है'। अर्जुन का वह प्रश्न क्या था? वह था – "हे कृष्ण! यह मन अत्यन्त चंचल और बलवान है। इसे नियंत्रण में रखना वायु को वश में करने के समान है। अब ऐसे मन को नियंत्रण में भला कैसे लाया जा सकता है?" भगवान श्रीकृष्ण का उत्तर था, "अर्जुन, जो तुम कह रहे हो वह सत्य है। इसे नियंत्रण में रखना सरल नहीं है, तथापि यह भी सत्य है कि ऐसा चंचल मन भी नियमित 'अभ्यास तथा वैराग्य' के द्वारा वश में लाया जा सकता है। अर्जुन का प्रश्न बिल्कुल स्वाभाविक हैं और भगवान श्रीकृष्ण का उत्तर भी वैसा ही सरल है। मन को नियंत्रण में लाने की समस्या कोई नयी बात नहीं है, यह समस्या भी उतनी ही प्राचीन है, जितना की मनुष्य स्वयं; भले ही आज की अनैतिक तथा असंयमित जीवनचर्या के फलस्वरूप इसमें कुछ वृद्धि हो गयी हो। वस्तुत: अर्जुन एक बड़े ही साहसी तथा नीतिमान पुरुष थे और यदि अर्जुन के समान व्यक्ति का मन भी चंचल तथा बेकाबू हो सकता है, तो फिर आज के सुखान्वेषी और भोगासक्त लोगों के मन की तो बात ही क्या है!

जिन लोगों ने अपने मन को नियंत्रित करने का संकल्प कर लिया है, उन्हें सर्वप्रथम मन की प्रकृति को स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा, जिससे कि वे लोहा लेना चाहते हैं। मन बन्दर के समान चंचल और मतवाले हाथी के समान शक्तिशाली है। इसे नियंत्रित करना जैसा कि अर्जुन ने कहा कि वायु को पकड़ने के समान है। मन को संयमित करने के लिए वैसी ही निपुणता की आवश्यकता है, जैसी कि बन्दरों को पकड़ने एवं हाथियों को प्रशिक्षित करने में लगती है।

जब अर्जुन ने शिकायत की कि मन को नियंत्रण में लाना अत्यन्त कठिन है, तब भगवान श्रीकृष्ण ने यह कहकर उसे हँसी में नहीं उड़ा दिया, "हे अर्जुन, बड़े बड़े योद्धाओं को पछाड़ देनेवाले तुम्हारे जैसे पराक्रमी के लिए अपने स्वयं के मन को वश में करना कौन सा कठिन कार्य है! तुम्हें तो यथेच्छा इसका उपयोग करने में समर्थ होना चाहिये।" परन्तु इसके स्थान पर समस्या की गंभीरता को समझते हुए वे सहानुभूतिपूर्वक बोले, "अर्जुन! तुम जो कहते हो, वह सत्य है कि मन अत्यन्त चंचल है एवं इसे वश में करना भी बहुत कठिन है।" भगवान श्री कृष्ण के ऐसा कहने का कारण यह है कि वे मन के स्वभाव को जानते थे। इस पृथ्वी

के प्रत्येक प्राणी तथा वस्तु का अपना एक विशिष्ट स्वभाव है, यथा — हवा का गुण है चलना, आग का जलना और जल का धर्म है बहना; ठीक इसी प्रकार मन का भी स्वभाव है – हर पल चारों तरफ दौड़ना, पागल के समान उछल-कूद मचाना, सपने देखना, चिन्ता करना, हवाई किले बनाना, अपने कर्तव्य-कर्म को छोड़कर अन्य बातों का विचार एवं चिन्ता करना आदि आदि। एक तो मन स्वभाव से ही चंचल है और ऊपर से चंचलता से भरा परिवेश भी उसे उत्तेजित करता रहता है, अतः ऐसी परिस्थिति में मनुष्य उसके तालों पर नाचने के सिवाय कर भी क्या सकता है? इसलिए जो लोग अपने मन को नियंत्रित करना चाहते है, उन्हें अपने आप को उच्छृंखल वातावरण से अलग रखना चाहिए। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि हमें शहर ही छोड़ देना चाहिए, बल्कि केवल इतना ही करना होगा कि हम अपने मन को उपरोक्त प्रकार के परिवेशों में घुलमिल न जाने दें। यह कैसे हो सकता है? यहाँ पाँच ज्ञानेन्द्रियों की भूमिका दृष्टि में आती है। आँख, कान, नाक, जिह्वा तथा त्वचा — ये पाँचों मन के यंत्र हैं। ज्योंही आँख की ज्योति किसी आकर्षक वस्तु पर पड़ती है, त्योंही मन उस पर कूद पड़ता है। ये इन्द्रियाँ ही मन को विभिन्न दिशाओं में खींचती रहती हैं। अतः बुद्धि की सहायता से इन्द्रियों को नियत्रण में रखना आवश्यक है। तात्पर्य यह कि हम उसे न देखें जिसे देखना उचित नहीं, उसे न सुनें जिसे सुनना उचित नहीं, उसे न खायें जिसे खाना उचित नहीं, वह न करें जिसे करना उचित नहीं। इसी को संस्कृत में 'दम' कहते हैं। मन ज्ञानेन्द्रियों की सहायता के बिना भी जहाँ खुशी हो जाना चाहता है। ऐसी परिस्थिति में बुद्धि की सहायता से मन को पुनः वापस ले आना चाहिये। मन को संयमित रखने की इस प्रत्यक्ष विधि को 'शम' कहते हैं।

मन तथा इसके निग्रह के विषय में इतनी जानकारी प्राप्त करने के बाद भी कोई पूछ सकता है कि आखिरकार इस मन को नियंत्रित करने की आवश्यकता ही क्या है? इसका सही उत्तर जानना हमारे लिए आवश्यक है। इसका उत्तर यह है : यदि किसी व्यक्ति का मन उसके स्वयं के नियंत्रण में है, तो इसके द्वारा महान उपलब्धियाँ सम्भव हैं; जबकि यदि वह उसने नियंत्रण में नहीं है, तो यहाँ तक कि साधारण से साधारण कार्य भी उसे कठिन तथा असम्भव लगते हैं। वस्तुतः 'मन' विराट् शक्तियों का आगार है, तथापि कुछ लोग बीच बीच में या फिर जीवन भर ही दुर्वल मानसिकता के शिकार दिख पड़ते हैं। इसका कारण यह है कि उनकी मानसिक ऊर्जा की अविवेकपूर्वक बरबादी हुई है। सभी इस बात को नहीं जानते

कि सूर्य की किरणों में अग्नि उत्पन्न करने की क्षमता निहित है। क्यों नहीं जानते? इसलिए कि अब तक उन्होंने सूर्य की किरणों से आग उत्पन्न होते तथा वस्तुओं को जलते नहीं देखा होगा। किन्तु जब उन्हीं किरणों को एक उत्तल लेंस से गुजारकर कागज के एक टुकड़े पर डाला जाता है, तो वे उसे जला डालती है। किरणों को यह शक्ति कहाँ से मिली? यह इसके एक बिन्दु पर केन्द्रित करके 'एकाग्र' बनाने परिणाम था। इसके पहले ये किरणें विभिन्न दिशाओं में बिखरी हुई थीं। इसी कारण गर्मी उत्पन्न कर पाने के बावजूद वे आग पैदा करने में असमर्थ रहीं, परन्तु एक बिन्दु पर केन्द्रित किये जाने पर उसी से आग धधक उठी। यही एक स्मरणीय रहस्य है।

हमारे मन में अद्भुत शक्ति निहित है, पर चूंकि यह शक्ति सभी प्रकार के आवश्यक तथा अनावश्यक कार्यों में नष्ट होती जा रही है, अत: हम केवल अति समान्य कार्य करने में ही सक्षम हो पाते हैं। यदि महान उपलब्धियाँ करनी हों, तो मन की विच्छिन्न शक्तियों को एक सूत्र में पिरोना होगा। और यह केवल तभी सम्भव है, जब मन हमारे स्वयं के नियंत्रण में हो। परन्तु बिना कुछ सुने पागल के समान दौड़नेवाले इस मन को भला कैसे अपना कहा जा सकता है? जो मन इन्द्रियों के आमंत्रण पर विषयों में डूब जाता है, वह निश्चित रूप से हमारा अपना नहीं है। अब हम इस मन को, जो कि हमारा अपना नहीं है, किस प्रकार अपने इच्छित कार्यों में लगायें?

हमारे प्राचीन ऋषियों ने पहली उपलब्धि की थी — निरन्तर प्रयास के द्वारा मन को नियंत्रण में लाकर 'मानसिक सन्तुलन' स्थापित करना। और जब ऐसे संयमित मन को एकाग्र किया जाता था, तो उनमें योग के महान रहस्यों को उद्घाटित करने की क्षमता आ जाती थी। इससे उन्हें दिव्य-ज्ञान की प्राप्ति हुई।

स्वामी विवेकानन्द बताते हैं कि एकाग्र मन वस्तुत: एक सर्चलाईट के समान है। सर्चलाइट हमें दूर तथा अँधेरे कोनों मे पड़ी वस्तुओं को भी देखने में समर्थ बनाता है।

यह सत्य है कि मन को एकाग्र करना है, किन्तु उसका विषयवस्तु तथा लक्ष्य क्या हो? इसका एक ऐसा सुनिश्चित उत्तर देना सम्भव नहीं, जो सभी व्यक्तियों के लिए अनुकूल हो, क्योंकि यदि कहा जाय कि आत्मज्योति पर मन को एकाग्र किया जाय, तो यह उचित नहीं होगा, कारण यह कि सभी योगी बनने के इच्छुक नहीं हैं। और न ही यह कहा जा सकता है कि मन को ईश्वर पर एकाग्र किया जाय,

क्योंकि हर व्यक्ति भक्त नहीं बनना चाहता। फिर यदि कहें कि मन को पाठों पर एकाग्र करना चाहिए, तो कैसा रहे? लेकिन सभी लोग तो स्कूल जानेवाले विद्यार्थी नहीं है! अतः सर्वाधिक उचित तो यही होगा कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही मनःसंयोग के लिए अपना खास विषय चुन ले।

परन्तु चूंकि यह लेख विशेष रूप से छात्रों से सम्बन्ध रखता है, अतः यहाँ पर हम इसी बात पर चर्चा करेंगे कि विद्यार्थी किस प्रकार अध्ययन में अपने मन को एकाग्र करें।

१. जिस प्रकार प्रत्येक योगी को ध्यान करने के लिए एक स्थिर तथा नरम आसन की आवश्यकता होती है, उसी तरह प्रत्येक विद्यार्थी के पास अपनी किताब-कापियों को फैलाकर सुविधापूर्वक बैठने के उपयुक्त मेज-कुर्सी अवश्य हो। छात्रों तथा योगियों में कई दृष्टियों से समानता दीख पड़ती है। यहाँ पर यह प्रश्न कदापि नहीं उठना चाहिए कि निर्धन विद्यार्थी कहाँ से इतनी बड़ी मात्रा में मेज-कुर्सियों की व्यवस्था कर सकेंगे? या फिर कोई यह पूछ बैठे कि 'महाशय, क्या श्री एम. विश्वेश्वरैय्या के पास उनके विद्यार्थी जीवन में मेज-कुर्सी थी? क्या वे सड़क की रोशनी में पढ़कर विश्वविख्यात व्यक्ति नहीं बन गये?' ऐसे तर्क भी यहाँ लाने की आवश्यकता नहीं। निश्चित रूप से सड़क की रोशनी में पढ़नेवाले सभी बालक विश्वेश्वरैय्या नहीं बन जाते। अस्तु जिन लोगों में मेज-कुर्सी लेने की सामर्थ्य नहीं, वे कम-से-कम एक डेस्क तो रख ही सकते हैं।

२. एक बार लिखने या पढ़ने बैठ जाने के बाद अनावश्यक रूप से अपना शरीर नहीं हिलाना चाहिए। बहुत से छात्र पढ़ते समय बड़ी बेढंगी मुद्रा में बैठते हैं। कुछ अन्य हैं जो पढ़ते समय अन्यमनस्क होकर किसी-न-किसी वस्तु को घूरते हुए अपना पेन या पेंसिल चबाते रहते हैं, मानो वे किसी गहरे चिन्तन में डूबे हुए हों। ऐसे ही और भी कई प्रकार दिखावटी अभ्यास होते हैं। ये सभी एकाग्रता में बाधक हैं। जैसे एक हिलते हुए बर्तन में रखा हुआ पानी स्थिर नहीं रह सकता, उसी प्रकार शरीर की मुद्राएँ बदलते रहने से मन भी चंचल होता रहता है। अतएव अध्ययन के समय एक उचित तथा स्थिर मुद्रा में बैठना बड़ा महत्व रखता है।

३. कहना न होगा कि अध्ययन के लिए एक बार में एक ही विषय लिया जाय। जब अध्ययन के लिए एक निर्धारित विषय चुन लिया गया, उसके बाद मन को कम-से-कम एक घण्टा उसी में तल्लीन रखा जाय। किसी पुस्तक को मात्र पढ़ डालने से ही अध्ययन नहीं हो जाता। एक पुस्तक को केवल पढ़ डालने और

उसका अध्ययन करने के बीच जो अन्तर है, व्यक्ति को उसे अवश्य ही समझ लेना चाहिए। एकाग्रता दोनों में ही लगती हैं। जल्दबाजी में किसी पुस्तक को पढ़कर पाठक उसके सार-संक्षेप से परिचित हो सकता है। परन्तु विस्तारित अध्ययन मन को इस योग्य बना देता है कि वह विषयवस्तु की गहराई में उतरकर उसके यथार्थ तात्पर्यों को जान ले, जो बहुधा सरसरी निगाह से छिपे रहते हैं। इसके फलस्वरूप विषय-वस्तु पर अच्छी पकड़ हो जायगी और भावी अध्ययन में भी सहायता मिलेगी।

४. जैसा कि पहले बताया जा चुका है — एक बार जब हम अध्ययन के लिए कोई विषय को लेकर बैठते हैं, तो उसे पूरे एक घण्टे तक जारी रखना अत्यन्त आवश्यक है। सामान्यत: मन किसी नये विषय को सहसा ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं होता। दिन भर हम जिन विभिन्न कार्यों में व्यस्त थे; मित्रों तथा अन्य लोगों के साथ जो बातें कर रहे थे अथवा हमारे मन में जो विचार चल रहे थे; वे अब पढ़ाई आरम्भ करने के बाद भी सक्रिय होंगे। अतएव अध्ययन के लिए तैयार होने में मन को आठ से दस मिनट तक लग जाते हैं। जब मन इस प्रकार विषयवस्तु की गहराई में डूब रहा हो, यदि अचानक तभी अध्ययन रोक दिया जाय, तो एकाग्रता भंग हो जायेगी एवं पढ़ाई का नुकसान होगा। अत: कुछ मिनटों बाद जब मन एकाग्र होता है, तो उस अवसर को विषय की गहराइयों में डूब कर उसके गहन अध्ययन में उपयोग करना चाहिए। इस तरह मन को कम-से-कम एक घण्टे तक अबाध रूप से अध्ययन में लगाये रखना चाहिए।

५. इस अध्ययन के दौरान सम्भव है कि परिवार का कोई सदस्य विनयपूर्वक किसी अन्य कार्य के लिए बुलाने आ जाय, इसलिए घर के लोगों को पहले से ही बता देना होगा, "कृपया, मुझे एक घण्टे तक मत बुलाएँ" — क्योंकि यदि मन में यदि किसी के पुकारने की सम्भावना भी बनी रही, तो वह पूरी तौर से अध्ययन में एकाग्र नहीं हो सकेगा।

६. अब आती है — ध्वनि-प्रदूषण की समस्या। गाँवों के शान्त-स्वच्छ वातावरण के बीच रहनेवाले विद्यार्थी इस दृष्टि से सौभाग्यशाली हैं। परन्तु शहरों में, और विशेषकर राजधानियों में निवास करनेवाले विद्यार्थियों को इस ध्वनि-प्रदूषण की समस्या का सामना करना पड़ता है। चूंकि ध्वनि-प्रदूषण सभी कस्बों तथा नगरों में बुरी तरह से फैला हुआ है, अतएव इसे सहन करने के सिवाय अन्य कोई विकल्प नहीं। चाहे कोई कितना भी इस समस्या को नजरन्दाज करने का प्रयास करे, पर जब ध्वनि-विस्तारक यंत्र चिघाड़ने लगते हैं, तो अध्ययन में शीघ्र ही व्यवधान पड़

जाता है। पवित्र गणेश चतुर्थी का समारोह आने पर पूरे महीने भर इस कर्कश ध्वनि से कान पक जाते हैं। फिर कर्नाटक में कन्नड़ राज्योत्सव आरंभ होने के साथ भी एक माह तक कोलाहल चलता रहता है और रामनवमी समारोह के विषय में तो जितना भी कहा जाय कम है। बेचारे छात्र अपनी दुर्दशा को भलीभाँति समझते हैं। ये ही सब मिलकर नागरी जीवन के नारकीय अनुभवों की सृष्टि करते हैं।

समाज का शिक्षित वर्ग और शिक्षाशास्त्री भी इस विषय में अपने को असहाय पाते हैं। सम्भवतः शिक्षाशास्त्रियों के पास अधिकार नहीं है और जिनके पास अधिकार है, उनके पास विवेक-शक्ति का अभाव है। खैर ध्वनि-प्रदूषण से निजात पाने एक रास्ता है अवश्य और वह यह है कि छात्र अपने मन के भीतर अध्ययन में उत्कृष्टता प्राप्त करने की तीव्र इच्छा विकसित करें। यदि मन में ऐसी तीव्र व्याकुलता है, तो फिर बाहरी शोरगुल शायद ही सुनाई पड़े। उदाहरण के लिए, जब हमारा मन किसी चिन्ता से आक्रान्त हो जाता है, तो हमारे बगल में भी बजनेवाले नगाड़े कि ध्वनि हमें सुनाई नहीं देती। परीक्षा के सिर पर आ पहुँचने पर यह व्याकुलता या उत्कण्ठा चरम सीमा पर दीख पड़ती है। परन्तु परीक्षाओं के दूर रहते ही यदि हम उनमें श्रेष्ठता हासिल करने की एक दृढ़ आकांक्षा पालें, तो हम अध्ययन में एक प्रकार की एकाग्रता विकसित कर सकते हैं। परन्तु इसके साथ ही यह स्मरण रखना आवश्यक है कि किसी के लिए भी बात बात में एकाग्रता का विकास कर लेना सम्भव नहीं हैं।

७. एक दूसरा उपाय है भी है, जिसके द्वारा अध्ययन में एकाग्रता प्राप्त की जा सकती है और वह है पठनीय विषय पर अच्छी तरह ध्यान देना है। इस सतर्कता को अवधान कहते हैं। इसका अर्थ है मन को जागरूक बनाये रखना। बहुत से छात्र ध्यानपूर्वक अध्ययन करने में असमर्थ होते हैं, क्योंकि उनका मन एक प्रकार से दिवा-स्वप्नों में खोया रहता है अथवा निरुद्देश्य ही चारों ओर भ्रमण करता रहता है। जिसका मन जागरूक है, केवल वही एकाग्रता की प्राप्ति में सफल हो सकता है। इसे पढ़कर यह प्रश्न उठ सकता है, "तो फिर मन को कैसे जागरूक रखा जा सकता है?" कुछ उपयोगी सुझाव यहाँ प्रस्तुत हैं —

(क) कुछ विशेष प्रकार के खाद्यपदार्थ निद्रा में वृद्धि करते हैं। ऐसे पदार्थों का त्याग कर देना चाहिए।

(ख) मन तभी सशक्त होगा, जब शरीर के विभिन्न अंग स्वच्छ रखे जायँ। इसके अतिरिक्त पहनने के वस्त्र, बिस्तर आदि दैनन्दिन उपयोग की सारी वस्तुएँ

साफ रहें।

(ग) कमरे की अन्य सभी वस्तुएँ तथा दैनिक उपयोग की चीजें सुव्यवस्थित रूप से रखी जायँ। यह सुश्रृंखलता सबल रूप से मन की जाग्रत अवस्था को प्रकट करती है। अधिकांश छात्रों में लापरवाही का भाव ही देखने में आता है। उनकी व्यक्तिगत चीजों तथा पुस्तकों की दुरवस्था को देखकर हम आसानी से समझ सकते हैं कि वे कितने लापरवाह हैं।

(घ) विद्यार्थियों के जानने योग्य एक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शरीर के समान ही मन को भी स्वच्छ रखना आवश्यक है। अश्लील एवं भद्दे विचारों को मन में प्रवेश करने से न केवल रोका जाना चाहिए, बल्कि मन को उनकी हवा तक नहीं लगने देनी चाहिए, क्योंकि ये विचार ही हमारे मन में तबाही मचाने तथा उसे बिगाड़ने में मूलभूत कारण हैं। मन यदि तन्द्राच्छन्न तथा स्वप्नपरायण है तो भी अधिक चिन्ता की बात नहीं, परन्तु अश्लीलता और भद्दगी यदि एक बार मन में प्रविष्ट हो गयी, तो फिर एकाग्रता का प्रश्न ही नहीं उठता। चूंकि एक शुद्ध तथा अदूषित मन आसानी से एकाग्र हो जाता है, अतः बुरे तथा दूषित विचारों को मन के पास नहीं फटकने देना चाहिए।

(ङ) छात्रों को मन-ही-मन संकल्प करना चाहिए -- "मैं एक घण्टे के भीतर इतने हिस्से का भलीभाँति अध्ययन करूँगा।" और निर्धारित समय के दौरान उस अंश अध्ययन पूरा कर लेने को उद्विग्नता का अनुभव करना चाहिए। आरम्भ में सम्भव है कि निर्धारित समय में उस हिस्से का अध्ययन समाप्त न हो सके, परन्तु ऐसे आकुल प्रयत्नों से मन के जागरूक रहने की सम्भावना बढ़ती है।

इस प्रकार से मन को जागरूक रखने का यह निरन्तर प्रयास काफी हद तक मन की एकाग्रता को विकसित करने में सहायक होगा।

८. एकाग्रता विकसित करने के इच्छुक छात्रों को चाहिए कि वे गपशप को विष के समान हानिकारक समझकर उसका त्याग कर दें। वैसे मित्रों के साथ पाठ्य विषयों पर चर्चा निश्चित रूप से सहायक सिद्ध हो सकती है। योगियों ने आविष्कार किया कि हमारी मानसिक ऊर्जा का बहुत बड़ा हिस्सा अनावश्यक बकवादों में नष्ट हो जाता है। बेकार की गपशप से मन का संयम तथा श्रृंखला नष्ट हो जाती है। एक दुर्बल तथा असम्बद्ध मन एकाग्रता के अयोग्य हो जाता है। दुर्बल शरीर तथा दुर्बल मन वाले व्यक्ति के लिए एकाग्रता टेढ़ी खीर है।

९. किसी किसी छात्र की यह शिकायत है कि जब वे मन को एकाग्र करने का प्रयास करते हैं, तो उन्हें सिरदर्द होने लगता है। इसका मुख्य कारण यह है कि उनके मस्तिष्क में यथेष्ट शक्ति नहीं है। मस्तिष्क को सुदृढ़ बनाने के लिए किसी योग्य व्यक्ति के मार्गदर्शन में कुछ विशेष योगासनों का अभ्यास करना चाहिए। इसके साथ-ही-साथ किसी अच्छे चिकित्सक की सलाह लेकर पौष्टिक भोजन, टॉनिक, च्यवनप्राश आदि का भी सेवन किया जा सकता है। प्रतिदिन उचित मात्रा में दूध, मक्खन तथा घी अवश्य लेना चाहिए। सच ही कहा है 'सर्वं अत्यन्त गर्हितम्'; तथापि ब्रह्मचर्य द्वारा रक्षित ऊर्जा ही सर्वोत्तम टॉनिक है। ब्रह्मचर्य पालन करने के लिए कुछ सहज सुझाव दिये जाते हैं –

(क) अपने अन्तर में स्थित आत्मा के समक्ष सच्चे हृदय से ब्रह्मचर्य की शक्ति को बनाये रखने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए।

(ख) शरीर तथा मन को सदैव शुद्ध रखना चाहिए।

(ग) मनुष्य जैसे बाघों तथा भेड़ियों से दूर भागता है, वैसे ही सावधान रहना होगा कि कहीं हम किसी असंयमित तथा अनुचित कार्यों में लिप्त छात्रों की संगत में न पड़ जायँ। वैसे हमें उनकी आलोचना करने के भी चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि उससे कुछ अन्य समस्याएँ पैदा होंगी।

१०. एकाग्रता की प्राप्ति में उपयोगी एक अन्य महत्त्वपूर्ण साधन है — 'श्रद्धा'। यह श्रद्धा या विश्वास बाहर से नहीं प्राप्त की जा सकती, यह एक ऐसा सद्गुण है, जिसे अंतःकरण से ही विकसित होना है। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति ने कभी-न-कभी अवश्य ही इस 'श्रद्धा' शब्द को सुना होगा, परन्तु केवल कुछ लोग ही इसके अन्दर निहित तात्पर्य को समझने हैं और इस श्रद्धा की शक्ति से वे अपने चुने हुए मार्ग पर उन्नति करते हुए लक्ष्य तक पहुँच गये हैं। विश्वास में ऐसी ही शक्ति है। यह अध्यवसायी साधक को आगे-ही-आगे बढ़ाती रहती है, जब तक कि वह अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच जाता। यहाँ कोई पूछ सकता है, "यह श्रद्धा ऐसी कौन-सी बला है, जिसे आप इतना तूल दे रहे हैं?" मनुष्य की अपनी शक्ति व क्षमता में विश्वास को ही श्रद्धा कहते हैं। इसी को 'आत्मविश्वास' भी कहा जाता है। सम्भव है कि किसी व्यक्ति की मांसपेशियाँ बड़ी ही मजबूत हों, परन्तु यदि उसे अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं है,तो ये उसके किसी काम की नहीं होंगी। हनुमानजी समुद्र को लाँघने में सक्षम थे, परन्तु वे चुप ही रहे क्योंकि उन्हें विश्वास नहीं था कि इस कार्य की क्षमता उनमें विद्यमान है। परन्तु जब जामवन्त ने उनके विश्वास को

जगाकर उन्हें उस शक्ति से परिचित कराया, तब वे एक ही छलाँग में लंका जा पहुँचे!

प्रत्येक विद्यार्थी में अनन्त ज्ञान का अर्जन करने की एक अद्भुत क्षमता निहित है। इस बात में तो कोई सन्देह नहीं। बात केवल इतनी सी है कि छात्र को उसकी अपनी अन्तर्निहित शक्ति में सन्देह नहीं होना चाहिए। संशय ही श्रद्धा का प्रबल शत्रु है। ज्योंही किसी सन्देह का उदय होता है, त्योंही अन्तर्निहित शक्ति जवाब देने लगती है। इसके बाद उसके लिए केवल अपने भाग्य पर रोना ही शेष रह जाता है। इस अंतर्निहित ज्ञान को प्रकट कैसे किया जाय? इसका उपाय है — नियमित तथा सुसम्बद्ध रूप से अध्ययन व चिन्तन करना। छात्र को इस प्रकार के दृढ़ संकल्प के साथ अध्ययन के लिए बैठना चाहिए, "मैं सावधानीपूर्वक अध्ययन करके निश्चित रूप से अपने ज्ञान में वृद्धि करूँगा।" यह एक ऐसा प्रभावी उपाय है, जिसके द्वारा मन स्वाभाविक रूप से एकाग्र हो जाता है। चाहे तो इसे आजमा कर देखा जा सकता है।

वस्तुतः श्रद्धा की महत्ता असीम है। अतः हमे मन-ही-मन कहना होगा — "हे श्रद्धा! तुम यदि साथ रहो, तो मेरी विजय सुनिश्चित है; और यदि चली जाओ, तो मेरी असफलता तथा पतन अवश्यम्भावी है।"

११. एकाग्रता की एक और तथा सबसे महत्त्वपूर्ण चाभी है -- प्रेम। यह एक अपरिहार्य नियम है कि मन अपनी पसन्द की वस्तुओं पर ही चिन्तन करता रहता है। जहाँ किसी भी वस्तु के प्रति प्रेम का अतिरेक होता है, मन उसमें तीव्रता के साथ एकाग्र हो जाता है। इस विषय में अधिक विस्तार के साथ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रिय वस्तु के साथ मन के लगाव का अनुभव करता है। अतः विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने अध्ययन के प्रति अनुराग पैदा करे।

आरम्भ में अध्ययन के प्रति इस अनुराग को थोड़े प्रयास के द्वारा विकसित करना पड़ेगा। किन्तु बाद में जैसे जैसे विषय सहजग्राह्य होता जाता है, वैसे वैसे सहज ही अध्ययन के प्रति अनुराग में वृद्धि होती जाती है। और तब मन अपने आप ही एकाग्रता की उपलब्धि कर लेता है।

श्रद्धा एवं प्रेम के द्वारा विकसित एकाग्रता ही सहज तथा स्वाभाविक होती है। यह किसी मानसिक संघर्ष या तनाव से रहित होता है।

अब हम विद्यार्थियों के लिए यहाँ एक विशेष सुझाव दे रहे हैं। भले ही कोई ऊपर बताये गये ग्यारहों सुझावों को अपना ले, परन्तु एकाग्रता की अन्तिम परिणति तभी मानी जायगी, जब पठनीय विषय पूरी तौर से समझ लिया गया हो। इसलिए व्यक्ति को दुखी होकर इस प्रकार खेद नहीं करना चाहिए, "मैं अभी तक एकाग्रता क्यों नहीं प्राप्त कर सका हूँ?" बल्कि व्यक्ति को धैर्य तथा पूरे उद्यम के साथ अध्ययन करने तथा विषय को स्पष्ट रूप से समझने के प्रयास में लग जाना चाहिए। उदाहरण के लिए कोई पाठ पढ़ते समय उसमें आये कठिन शब्दों का शब्दकोष की सहायता से स्पष्ट रूप से अर्थ जाने बिना अग्रसर नहीं होना चाहिए। अन्यथा इसका परिणाम केवल समय तथा शक्ति की बर्बादी मात्र ही होगा। ऐसी पढ़ाई से बिल्कुल भी लाभ नहीं, क्योंकि कोई भी विषय उसमें आये कठिन शब्दों के अर्थ जाने बिना भला कैसे समझा जा सकता है?

आज के छात्रों की शैक्षणिक योग्यता, और विशेषकर उनकी लेखन-क्षमता कितनी दयनीय हो गयी है, यह जानने के लिए उनसे किसी विषय पर एक निबन्ध लिखने को कहना ही पर्याप्त है। उसके प्रत्येक पृष्ठ पर हमें यथेष्ट मात्रा में गलत शब्दों के प्रयोग, वर्तनी की भूलें तथा त्रुटिपूर्ण वाक्य मिल जायँगे। छात्र चाहे कितना भी प्रतिभावान क्यों न हो, परन्तु बिना परिश्रम व उद्यम के उसे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता।

इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, "केवल अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा ही एकाग्रता की प्राप्ति सम्भव है।" अभ्यास का अर्थ है — निरन्तर उद्यम और अथक प्रयास। पाँच वर्ष के एक बालक के लिए कुछ साधारण शब्द भी लिख पाना बड़ा कठिन हो सकता है, किन्तु वही बालक यथासमय जब दसवीं के स्तर पर आता है, तो वह लम्बे वाक्य भी अनायास ही और धाराप्रवाह लिख सकेगा। यह कैसे सम्भव हुआ? और कुछ नहीं, बस केवल अभ्यास के द्वारा ही। इस संसार में अतीत काल में भी महान उपलब्धियाँ होती रही हैं और आज भी हो रही हैं। हमें एक बार अपने खुले मन से उनकी कल्पना करनी होगी। प्रत्येक उपलब्धि के लिए कितने लोग निरन्तर प्रयास में लगे रहे होंगे! अध्यवसायी लोगों के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।

अब हम 'वैराग्य' पर आते हैं — इस शब्द से क्या तात्पर्य है? क्या इसका अर्थ संन्यास-त्याग आदि हैं? नहीं, अपने निर्वाचित लक्ष्य की पूर्ति होने तक बाकी सभी आकर्षणों तथा प्रलोभनों से दूर रहना ही 'वैराग्य' का निहितार्थ है। तात्पर्य

यह कि केवल अपने हाथ के कार्य में मन को लगाये रखना और बाकी सब कुछ के प्रति उदासीन रहना — यही 'वैराग्य' है। संन्यासियों का लक्ष्य आत्मानुभूति होने के कारण उन्हें समस्त सांसारिक वस्तुओं का परित्याग करना पड़ता है और इसीलिए 'वैराग्य' शब्द त्याग के अर्थ में प्रचलित हो गया है। अतः आज जब कभी इस शब्द प्रयोग होता है, तो हमारे मनश्चक्षुओं के समक्ष किसी संन्यासी या तपोवन-प्रस्थान का चित्र उभर आता है, किन्तु यह ठीक नहीं है। कोई भी व्यक्ति जब किसी विशेष लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयास में लगता है, तो वह काफी हद तक अन्य बातों से विरत हो जाता है। एक छात्र से यह अपेक्षा की जाती है कि वह ज्ञानप्राप्ति के प्रयास में समर्पित होगा। परन्तु यदि उसका मन अन्य प्रलोभनों के द्वारा विच्छिन्न हो रहा है, तो उसकी शिक्षा कैसे अग्रसर होगी? विशेषकर जो लोग एकाग्रता प्राप्त करने का संकल्प ले चुके हैं, उन्हें तो कभी मन को भटकानेवाली वस्तुओं पर दृष्टि तक नहीं डालनी चाहिए।

अब यह जानने के बाद कि एकाग्रता में ही सफलता व आनन्द निहित है, छात्र को हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहने के स्थान पर तत्काल पूरी शक्ति के साथ इसके अभ्यास में लग जाना चाहिए।

❑ ❑ ❑

सच्ची एकाग्रता का लक्षणं यह है कि इसकी सहायता से व्यक्ति अपने अध्ययन में इतना डूब जाता है कि वह न केवल परिवेश, वरन अपने शरीर तक भी भूल जाता है।

❑ ❑ ❑

यदि कोई व्यक्ति अपने शारीरिक रोगों को नष्ट कर अच्छे स्वास्थ्य का आनन्द उठाना चाहता हो, यदि कोई अपनी बौद्धिक क्षमता के विकास करने का इच्छुक है और यदि कोई सचमुच ही एकाग्रता प्राप्त करने पर तुला हुआ है, तो उसे योगासनों का आश्रय लेना चाहिए। योगासन का नियमित अभ्यास शरीर के स्नायु-तंत्र को सबल तथा सक्रिय बनाता है और इस प्रकार एकाग्रता के विकास में सहायक होता है। योगासन मानवजाति के लिए एक वरदान है।

युवकों का मन एक जलप्रपात के समान है। इसमें एक विशाल जलराशि पर्वत की ऊँचाइयों से तेज धार के रूप में नीचे उतरती है और चारों ओर बिखर कर बहते हुए, अन्त में बिना किसी उद्देश्य की पूर्ति किये ही समुद्र में जाकर समाप्त हो

जाती है। दूसरी ओर, इस जल के चारों ओर यदि एक बाँध बना दिया जाय और इसके बहाव को नहरों के द्वारा व्यवस्थित कर दिया जाय, तो इससे सिंचाई के काम में लगाकर अच्छी फसल उपजायी जा सकती है।

इसी प्रकार युवकों की बिना किसी उद्देश्य के ही बरबाद हो जानेवाली असंयमित तथा उच्छृंखल मानसिक शक्तियों के चारों ओर नियमों तथा अनुशासन का बाँध बनना चाहिए, आचार-संहिता की नहरें खुदनी चाहिए और शिक्षा, कला, साहित्य एवं प्रौद्योगिकी के खेतों का मानसिक शक्तियों के जल से सिंचन होना चाहिए। तभी हम संस्कृति की एक अद्भुत फसल पैदा कर सकेंगे।

एक विद्यार्थी में एकाग्रता का अभाव क्यों होता है?

(१) संभवतः वह अपने पाठ को ठीक-ठीक समझ पाने में असमर्थ होता है।

(२) अथवा उसके मस्तिष्क सबल बनाने के लिए पौष्टिक भोजन की आवश्यकता होती है।

(३) अथवा उसकी घरेलू परिस्थितियाँ उसके मन को उद्विग्न किये रहती हैं।

(४) अथवा वह टेलीविजन एवं सिनेमा के व्यसन से ग्रस्त है।

(५) अथवा उसका मन इन्द्रिय-भोगों के पीछे भागता रहता है।

(६) अथवा सम्भव है वह किसी स्थायी रोग से भुगत रहा हो।

(७) अथवा उसे शान्तिपूर्वक आराम से बैठकर पढ़ने के लिए न्यूनतम सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं हैं।

(८) अथवा उसका मन समुचित रूप से विकसित नहीं हो सका है।

(९) अथवा वह एक ऐसे छात्रावास में रहता है, जिसकी व्यवस्था ठीक नहीं है।

(१०) अथवा वह बुरी संगति में पड़ गया है।

(११) अथवा वह अपने विषयों को पसन्द नहीं करता और उसकी अभिरुचि किसी अन्य विषय में है।

जब समस्याओं के कारण का निदान हो जाता है, तब उनका समाधान ढूँढ़ निकलना कोई बड़ी समस्या नहीं रह जाती।

□

श्री चैतन्य महाप्रभु (३१)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में लिखित उनका 'श्रीश्री चैतन्यदेव' ग्रन्थ महाप्रभु की जीवनी पर एक प्राभाणिक रचना मानी जाती है। उसी का हिन्दी अनुवाद यहाँ धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। - सं.)

कठोर वैरागी रघुनाथ चैतन्यदेव के इन अत्यन्त मूल्यवान उपदेशों का काय-मनो-वाणी से पालन करने लगे। रथयात्रा का समय आ पहुँचा था और गौड़ के भक्तगण पुनः पुरी आकर महाप्रभु से मिले। फिर आनन्द का स्रोत प्रवाहित हो उठा। चैतन्यदेव का भक्तों से मिलन, उनका नृत्य-गीत-कीर्तन, महोत्सव और महाप्रसाद ग्रहण देखकर रघुनाथ का चित्त आनन्द से अभिभूत हो उठा नित्यानन्द, अद्वैताचार्य, श्रीवास आदि पूज्य लोगों ने रघुनाथ को देखकर तथा उनके अहर्निश ध्यान-धारणा, साधन-भजन व कठोर त्याग-वैराग्य के बारे में सुनकर उन्हें खूब आशीर्वाद प्रदान किया। गौड़ीय भक्तों की यात्रा का व्ययभार वहन करनेवाले शिवानन्द सेन से रघुनाथ को पता चला कि उनके माता-पिता व सगे-संबंधी सभी उनके लिये बड़े चिन्तित हैं। चारों दिशाओं में आदमी भेजकर तलाश कराने पर भी उनका कोई पता न मिलने पर, अब वे लोग बड़े दुःखपूर्वक समय बिता रहे हैं। माता-पिता के शोक के बारे में सुनकर भी रघुनाथ के चित्त में विक्षेप नहीं आया। वे परम शान्तिधाम पुरी में ही रहकर प्रभुचरणों के ध्यान-चिन्तन में ही लगे रहे। पिछले वर्षों के समान ही इस बार भी चैतन्यदेव ने भक्तों के साथ गुंण्डिचा-भवन की सफ़ाई, रथयात्रा, पुनर्यात्रा, जनमाष्टमी आदि विशेष विशेष पर्वों पर आनन्दोत्सव में भाग लिया। इन शुभ तिथियों पर उनके अद्‌भुत भावावेश तथा अपूर्व लीलाओं को देखकर रघुनाथ ने अपने श्रवण, नयन, प्राण व मन को धन्य माना।

देखते-ही-देखते उत्सवों के बीच आनन्द के चार महीने बीत गये; गौड़ीय भक्त विदा लेकर स्वदेश लौटे। शिवानन्द के घर पहुँचते ही रघुनाथ का संवाद लेने हिरण्य-गोवर्धन का आदमी आ पहुँचा। उनकी रघुनाथ के साथ भेंट हुई है या नहीं — इसका ठीक ठीक उत्तर जानने के लिए उन लोगों ने अतीव विनयपूर्वक

पत्र लिखा था। पत्र पढ़कर शिवानन्द का अन्तर विगलित हो उठा। शिवानन्द ने उस सन्देशवाहक को भलीभाँति सारा समाचार देते हुए बताया कि पुरीधाम में उनकी रघुनाथ के साथ मुलाकात हुई थी, वे सकुशल हैं और चैतन्यदेव के चरणों में रहकर भगवद्भजन करते हुए कालयापन कर रहे हैं। उन्होंने सन्देश में यह भी बताया कि रघुनाथ के अन्तर में तीव्र वैराग्य है, उनके घर लौटने की कोई सम्भावना नहीं; गहन निशा के समय श्री जगन्नाथ का राजवेश में पुष्पांजलि देखने के पश्चात् वे सिंहद्वार पर आकर खड़े हो जाते हैं और अयाचित भाव से लोग जो महाप्रसाद दे जाते है, उसी को ग्रहण करके जीवन धारण करते हैं।

पुत्र का संवाद पाकर माता-पिता के चित्त को थोड़ी शान्ति मिली, तथापि उनके खाने-रहने की कठोरता के बारे में सुनकर उन लोगों के प्राण उद्विग्न हो उठे। उन लोगों ने दो सेवक तथा एक रसोइये ब्राह्मण को चार सौ मुद्राओं के साथ शिवानन्द सेन के पास भेजा और अनुरोध किया कि वे इन सबको पुरी भेजने की व्यवस्था कर दें। उनका उद्देश्य था कि ये लोग पुरी में रहकर रघुनाथ की सेवा करेंगे। शिवानन्द ने लोगों को वापस भेजते हुए कुछ काल प्रतीक्षा करने की सलाह दी और लिखा कि अगले वर्ष रथयात्रा के समय पुरी जाते समय वे स्वयं ही इन लोगों को अपने साथ ले जाएँगे, क्योंकि इस प्रकार आदमी भेजना सम्भव नहीं था। अगले वर्ष रथयात्रा के समय रघुनाथ के माता-पिता ने गौड़ीय भक्तों के साथ दो नौकर, एक रसोइया और उनके साथ चार सौ मुद्राएँ पुरी भेज दीं। उन लोगों ने पुरी में रहकर अपने मालिक की इच्छानुसार रघुनाथ को सुख-सुविधा पहुँचाने का तरह-तरह से प्रयास किया। परन्तु महात्यागी रघुनाथ उनकी बिन्दुमात्र भी सेवा-सहायता स्वीकार नहीं करते थे। वे पूर्ववत ही कठोरतापूर्वक जीवनयापन करते रहे।

पुरी में चार माह बिताने के बाद गौड़ीय भक्त वापस लौट आये, परन्तु सेवक तथा रसोइया अपने मालिक की इच्छानुसार पुरी में ही निवास करते रहे। वे लोग मौका पाते ही रघुनाथ से अपनी सेवा स्वीकार करने का आग्रह करते। परन्तु रघुनाथ अटल रहे, उनके वैराग्य में ह्रास नहीं हुआ। इसी प्रकार कुछ काल व्यतीत होने के बाद वे सोचने लगे कि किस तरह माता-पिता की अभिलाषा और उनका भेजा हुआ धन सार्थक हो! अतः महीने में दो दिन वे आठ आने

का महाप्रसाद खरीदकर चैतन्यदेव को भिक्षा प्रदान करने लगे। इस प्रकार उन्होंने लगभग दो वर्ष तक महाप्रभु की सेवा करके अपने माता-पिता के धन का किंचित सदुपयोग किया था, परन्तु स्वयं के लिए उन्होंने कभी कुछ स्वीकार नहीं किया। अब दो वर्ष बाद उनके आन्तरिक भाव में परिवर्तन आया और उन्होंने चैतन्यदेव की सेवा के लिए भी अर्थ लेना अस्वीकार कर दिया। रघुनाथ का भिक्षादान बन्द हो जाने पर महाप्रभु ने स्वरूप दामोदर से इसका कारण पूछा। रघुनाथ के अन्तर की बातें स्वरूप से छिपी नहीं रहती थी। उन्होंने उत्तर दिया, "इस प्रकार आपकी सेवा करके रघुनाथ को अब सन्तोष नहीं होता और घर के लोगों से धन लेने में उन्हें बड़ा संकोच होता है। उन लोगों के साथ अपना सम्पर्क पूर्णतः विच्छिन्न करके के लिए ही रघुनाथ ने आपको भिक्षा देना बन्द कर दिया है।"

रघुनाथ की अन्तर्दृष्टि देखकर चैतन्यदेव को बड़ा आनन्द हुआ और वे उनकी प्रशंसा करते हुए बोले, "रघुनाथ ने अच्छा ही किया है। उसके पिता और ताऊ घोर विषयी हैं। साधु, ब्राह्मण, गरीब और दुखियों को प्रभूत दान देने तथा विविध प्रकार के सत्कर्म करने के बावजूद वे लोग संसार में अत्यन्त आसक्त हैं। संसार में अत्यधिक आसक्त व्यक्ति निष्काम भाव से दान नहीं कर सकता। वे लोग ऐहिक-पारलौलिक सुखप्राप्ति हेतु तथा अपने दुष्कर्मों के प्रायश्चित के रूप में ही दान किया करते हैं। इस कारण उनका अन्न अशुद्ध होता है। ऐसे अशुद्ध दान का अन्न ग्रहण करने से चित्त भगवान में नहीं लगता और भजन में बाधाएँ आती हैं। इतने दिन मैंने रघुनाथ की अभिलाषा देखकर ही कुछ कहा नहीं। त्यागी भजनशील साधक के लिए इस प्रकार धन ग्रहण करना बड़ा ही अनर्थकारक है। भगवत्कृपा से रघुनाथ इस बात को समझ गये, तो यह बड़ा ही अच्छा हुआ।" कुछ काल बाद रघुनाथ ने सिंहद्वार पर खड़े होकर भिक्षा लेना भी बन्द कर दिया। गोविन्द ने जाकर चैतन्यदेव को बताया, "अब तो रघुनाथ सिंहद्वार पर भी नहीं दिख पड़ते।" गोविन्द की बात सुनकर महाप्रभु के मन में उत्सुकता जागी। अगले दिन जब उन्होंने स्वरूप के पास जाकर पूछताछ की, तो वे हँसते हुए बोले, "सिंहद्वार पर बहुत से परिचित लो। आना-जाना करते हैं और वे लोग रघुनाथ को देखकर उन्हें बड़े यत्न के साथ भिक्षा देते हैं, इसी कारण अब वे भिक्षा के लिए सिंहद्वार पर नहीं जाते। वे

दोपहर में जाकर छत्र से भिक्षा ले आते हैं। वे मुख से कुछ भी नहीं कहते। बस छत्र से जो भी मिल जाता है, उसी को सन्तुष्ट चित्त से ग्रहण करके वे निश्चिन्त भाव से भगवद्भजन में लगे रहते हैं। रघुनाथ का विवेक-वैराग्य देखकर चैतन्यदेव ने सहर्ष कहा, "सिंहद्वार छोड़कर उसने अच्छा ही किया। वहाँ खड़े होकर भिक्षा लेना तो वेश्यावृत्ति से समान है।"

इस प्रकार कुछ काल छत्र से भिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् रघुनाथ को वह भी अच्छा नहीं लगा। लोकसंग का पूर्णतः परित्याग करने के हेतु उन्होंने छत्र जाना भी छोड़ दिया। श्री जगन्नाथजी का महाप्रसाद विक्रय होने के बाद, जो बच जाता है उसके खराब हो जाने पर आनन्दबाजार[1] के दुकानदार उसे प्राचीर के बाहर फेंक दिया करते हैं। पुरी में बहुत सी तैलंग[2] गायें हैं, जो इस सड़े हुए महाप्रसाद का भक्षण करती हैं। परन्तु ज्यादा सड़ जाने पर उसे गायें भी नहीं खा पातीं और वह दीवाल के निकट ही पड़ा रहता है। छत्र जाना बन्द करने के बाद रघुनाथ गम्भीर रात के समय सबकी दृष्टि बचाकर वह सड़ा हुआ महाप्रसाद इकट्ठा कर लेते और अपनी कुटिया में लाकर उसे चुपके से भलीभाँति पानी से धोते। बारम्बार धोने से जब उसका सड़ा हुआ उपरी भाग निकल जाता, तो भीतर के बचे हुए कड़े अंश को वे नमक के साथ ग्रहण करके जीवनधारण करते। कुछ काल इसी प्रकार व्यतीत होने के बाद स्वरूप को सब कुछ ज्ञात हो गया और उन्होंने यह बात गोविन्द को बता दी। फिर गोविन्द के मुख से यह बात चैतन्यदेव के कानों तक भी जा पहुँची। वे इस पर अत्यन्त विस्मित हुए और इस अद्‌भुत घटना को प्रत्यक्ष देखने के लिए एक दिन गहन रात के समय स्वरूप को साथ लिए हुए वे रघुनाथ की कुटिया में जा पहुँचे।

महाप्रसाद को धोने के बाद उसमें नमक मिलाकर जब रघुनाथ उसे अपने सामने रखकर अपने इष्टदेव को निवेदित कर रहे थे, तभी अचानक चैतन्यदेव उनके सम्मुख जा खड़े हुए। आँखें खोलने पर सामने ही स्वरूप के साथ महाप्रभु को देखकर रघुनाथ का अन्तर पुलकित हो उठा। प्रेमविह्वल होकर वे चैतन्यदेव के चरणों में लोट गये। महाप्रभु ने भी उन्हें उठाकर प्रेमालिंगन दिया। दोनों के ही नेत्रों से प्रेमाश्रु-धार वह रही थी। तदुपरान्त सम्मुख रखे पात्र में महाप्रसाद

१. पुरी का वह हिस्सा, जहाँ महाप्रसाद बिकता है।

२. दक्षिण भारतीय

रखा देखकर प्रेमिक संन्यासी उसमें से एक मुट्ठी लेकर खाने लगे और उसके अत्यन्त सुस्वादु और तृप्तिकर बोध होने पर उल्लसित अन्तर के साथ वे रघुनाथ से बोले, "ऐसा अमृत तुम अकेले ही छिप-छिपकर खाते हो, मुझे नहीं देते!" यह कहते हुए उन्होंने जब एक मुट्ठी और लेने के लिए हाथ बढ़ाया, तो स्वरूप तुरन्त ही उनका हाथ पकड़कर बोले, "यह आपके उपयुक्त नहीं है। अधिक खाने से तबियत खराब हो जायगी।" स्वरूप ने उनके हाथ से प्रसाद छीन लिया और उन्हें खाने नहीं दिया। इस पर चैतन्यदेव को बड़ा क्षोभ हुआ। तत्पश्चात् वे बारम्बार उस अद्‌भुत प्रसाद की प्रशंसा करते हुए कहने लगे, "प्रतिदिन मैं कितने ही प्रकार के प्रसाद खाता हूँ, परन्तु ऐसा उत्तम स्वाद तो अन्य किसी प्रसाद में नहीं मिला था।" रघुनाथ की निष्ठा, भक्ति और त्याग-वैराग्य देखकर दोनों को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्हें अप्रत्याशित रूप से कृपा, स्नेह व आशीर्वाद प्रदान करने के बाद वे लोग हृष्टचित्त के साथ विदा हुए।

शंकरानन्द सरस्वती नाम के एक संन्यासी तीर्थभ्रमण के पश्चात पुरी आये और व्रजभूमि की पुण्य स्मृति के रूप में उन्होंने चैतन्यदेव को एक गोवर्धन शिला तथा एक गुंज की माला उपहार में दी थी। लगभग तीन वर्षों तक वे इन्हें परम आदरपूर्वक रखे रहे। फिर रघुनाथ की भक्ति-निष्ठा पर प्रसन्न हो तथा उन्हें सुयोग्य पात्र समझकर, महाप्रभु ने अपनी ये दोनों प्रिय वस्तुएँ उन्हें सौंपते हुए कहा, "यह शिला श्रीकृष्ण का विग्रह है। तुम आग्रहपूर्वक इसका सात्त्विक भाव से पूजन करो। एक घट जल तथा तुलसी के दोनों तरफ के पत्तों के बीच जो कोमल मंजरी होती है, ऐसी आठ मंजरियाँ प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक देते रहना। इस प्रकार शुद्ध भाव से सात्विक पूजा करते रहने से तुम्हें शीघ्र ही कृष्ण के प्रेमधन की उपलब्धि हो जायेगी।" चैतन्यदेव से गोवर्धन-शिला, गुंजमाला और श्रीकृष्ण-सेवा का सात्विक विधान पाकर रघुनाथ के उल्लास की सीमा न रही। वे अमोल निधि समझकर इन्हें अपनी कुटिया में ले गये और पूर्ण मनोयोग के साथ तद्गतचित्त होकर सेवा-पूजा करने लगे। रघुनाथ का सौभाग्य देखकर दामोदर स्वरूप भी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने सेवा-पूजा के लिए एक बालिश्त लम्बाई के दो कपड़े, एक पीढ़ा तथा जल के निमित्त एक घड़े की व्यवस्था कर दी। महात्यागी रघुनाथ इस अनाडम्बर, अपूर्व और सात्विक पूजा के द्वारा अपने अन्तर में जिस परमानन्द

का बोध करते, उतना षोडशोपचार पूजा के द्वारा भी प्राप्य नहीं है।

इस प्रकार कुछ काल सेवा-पूजा चलती रही, तदुपरान्त एक दिन स्वरूप रघुनाथ से बोले, "अब तुम अपनी पूजा में आठ कौड़ी के खाजा-सन्देश का भोग निवेदन करो। श्रद्धापूर्वक अर्पित करने से यही अमृत के समान होगा।" स्वरूप की इच्छा को शिरोधार्य कर तब से गोविन्द आठ कौड़ी[३] के खाजा-सन्देश[४] की व्यवस्था करता और रघुनाथ उसे गोवर्धनधारी के भोग में निवेदित कर परम आनन्द का उपभोग करते। राजैश्वर्य में पले युवक रघुनाथ का कठोर वैराग्य, अद्भुत तितीक्षा, चित्त की एकाग्रता और साधन-भजन में निष्ठा देखकर लोग विस्मित रह जाते। श्री चैतन्य के चरणों में आश्रय लेकर तथा दामोदार स्वरूप के उपदेशों पर चलकर उन्होंने जीवन को नियमित करके त्याग-तपस्या के चरम आदर्श का पालन किया था। लिखा है, "अनन्तगुण रघुनाथ के गुणों का भला कौन वर्णन कर सकता है! उनकी नियम-निष्ठा पत्थर की रेखा के समान थी। उनका साढ़े सात प्रहर[५] प्रभु के स्मरण में बीतता था। चार दण्ड[६] वे आहार-निद्रा में बिताते थे, पर किसी किसी दिन तो उतना भी नहीं। उनके वैराग्य की बात तो और भी अद्भुत है। उनकी जिह्वा ने आजन्म कभी रस का स्पर्श ही नहीं किया। फटे हुए किनारे की कथरी के अतिरिक्त उन्होंने और कोई वस्त्र नहीं पहना। उन्होंने सावधानीपूर्वक प्रभु की आज्ञा का पालन किया। प्राणरक्षा के लिए जितना आवश्यक होता, वे केवल उतना ही आहार करते और स्वयं को तुच्छ मानते।"

इसी प्रकार कठोर साधन-भजन में डूबकर रघुनाथ ने पुरी में निवास किया था। चैतन्यदेव की लीला के अन्तिम पर्व में स्वरूप के साथ ही रघुनाथ को भी उनकी सेवा करने का सौभाग्य मिला था। चैतन्यदेव के तिरोभाव के पश्चात् स्वरूप जब तक जगत् में रहे, तब तक रघुनाथ ने भी उनकी सेवा करते हुए पुरी में ही निवास किया था। उनका भी अन्तर्भाव हो जाने के बाद वे व्रज में जाकर रहे थे। उनके अन्तिम काल के अद्भुत त्याग-तपस्या का विवरण भी अत्यन्त विस्मयजनक है, "उन्होंने अन्न-जल त्याग दिया और केवल दो-तीन पाव

---

३. उन दिनों छोटी मुद्रा के रूप में कौड़ियों का प्रचलन था। २० कौड़ियों का एक पैसा और ६४ पैसों के सोलह आने अथवा एक रूपया होता था। ४. एक तरह का मिष्ठान।
५. तीन घण्टे का एक प्रहर होता है। ६. चौबीस मिनट का एक दण्ड होता है।

मट्ठा पीकर ही रहने लगे। वे प्रतिदिन एक हजार दण्डवत करते, एक लाख नाम जपते और दो सहस्त्र वैष्णवों को प्रणाम करते। इसके अतिरिक्त वे रात-दिन कृष्ण की मानसपूजा करते, एक प्रहर महाप्रभु के चरित्र का वर्णन करते, तीन बार राधाकुण्ड में जाकर स्नान करते, ब्रजवासी वैष्णवों को आलिंगन करते, साढ़े सात प्रहर भक्ति-साधना करते, केवल चार दण्ड शयन करते और किसी किसी दिन उतना विश्राम भी नहीं करते।''

चैतन्यदेव जब काशीधाम गये थे, तो उस समय वे वहाँ तपन मिश्र के पुत्र, बालक रघुनाथ के मन में भगवद्भक्ति का बीज वपन कर आये थे। भक्तिमान माता-पिता की देखरेख में सौभाग्यशाली पुत्र के उर्वर हृदय में वह बीज अंकुरित होकर क्रमशः पुष्ट होने लगा। युवावस्था प्रारम्भ होने के साथ-ही-साथ रघुनाथ संसार से विरागी हुए और भगवद्भजन में कालयापन करने की अभिलाषा के साथ पुरी आकर चैतन्यदेव के चरणों में उपस्थित हुए। रघुनाथ को देखकर महाप्रभु के चित्त में अतीव आनन्द का संचार हुआ और उन्होंने प्रसन्नता के साथ उन्हें आश्रय प्रदान किया। दिन-पर-दिन रघुनाथ के अन्तर में भाव-भक्ति सैकड़ों गुनी बढ़ती गयी। अब से उन्हें रघुनाथ भट्ट तथा सप्तग्रामवासी रघुनाथ को रघुनाथ दास के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। काव्य तथा अलंकारशास्त्र में रघुनाथ भट्ट की गहन पैठ थी। भक्त-पण्डित रघुनाथ जब अपने सुमधुर स्वर तथा ललित छन्द में श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रों का पाठ करते, तो उनके कण्ठ से निःस्रित उस अमृतधारा का पानकर श्रोताओं का मन भक्तिरस से ओतप्रोत हो जाता। चैतन्यदेव भी उनके मधुर कण्ठ से विशुद्ध राग-लय-तालयुक्त गम्भीर भावोद्दीपक गीत, कविता, नाटक तथा श्रीमदभागवत आदि भक्तिशास्त्रों का पाठ सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होते। इसी प्रकार परमानन्द के बीच आठ महीने बीत गये। चैतन्यदेव के संग पुरी में निवास करते तथा उनके उपदेशानुसार साधन-भजन में प्रगति करते हुए रघुनाथ के अन्तर का वैराग्यभाव दिनों-दिन प्रबल होता गया। उन्होंने सदा-सर्वदा के लिए घर-संसार से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर चैतन्यदेव के चरणों में ही आजीवन निवास करने की इच्छा व्यक्त की। परन्तु महाप्रभु सहमत नहीं हुए और उन्होंने रघुनाथ को घर जाकर वृद्ध माता-पिता की सेवा करने का आदेश दिया। चैतन्यदेव ने रघुनाथ को समझाते हुए कहा, ''यदि गृहस्थी करने की इच्छा न हो, तो विवाह मत करना। जितने दिन

माता-पिता जीवित हैं, उतने दिन घर में रहकर यथासाध्य उनकी सेवा करो और भक्तों के पास जाकर भागवत आदि शास्त्रों का अध्ययन तथा भगवद्भजन में समय बिताओ। उनका देहान्त हो जाने के पश्चात् घर-बार छोड़ वृन्दावन में जाकर निवास करना। कुछ काल बाद एक बार फिर पुरी आना।"

रघुनाथ ने चैतन्यदेव की आज्ञा शिरोधार्य की और उनके चरण-कमलों की वन्दना करने तथा उनका आशीर्वाद लेने के बाद वे वाराणसी लौट आये तथा माता-पिता की सेवा, शास्त्र-अध्ययन व साधन-भजन में समय बिताने लगे। लगभग चार वर्ष बाद वृद्ध माता-पिता का देहावसान हो जाने पर, रघुनाथ फिर पुरी आकर चैतन्यदेव के चरणों में उपस्थित हुए। महाप्रभु ने उन्हें अपने पास रखकर परम स्नेहपूर्वक भक्तिमार्ग के उच्च तत्त्वों तथा साध्य-साधन प्रणाली की शिक्षा दी और साधन-भजन कराते हुए उनको एक तत्त्वज्ञ आचार्य के रूप में तैयार किया। तदुपरान्त चैतन्यदेव ने उन्हें व्रजमण्डल में रूप-सनातन के पास उनके प्रचार-कार्य में सहायता करने भेज दिया। व्रज पहुँचकर दोनों भाइयों का संग पाकर रघुनाथ का अन्तर आनन्द से परिपूर्ण हो उठा और वे भी उन्हीं लोगों के समान त्याग-वैराग्यमय जीवन बिताते हुए साधन-भजन में कालयापन करने लगे। उनके पवित्र जीवन तथा प्रेरक उपदेशों से अनेक जीवों के प्राण शीतल हो गये थे। चैतन्यदेव द्वारा प्रवर्तित भक्तिमार्ग के प्रचारक सुप्रसिद्ध छह गोस्वामियों में रघुनाथ दास और रघुनाथ भट्ट इन दोनों महानुभावों का नाम भी है। रघुनाथ भट्ट के ही विशेष अनुगत शिष्य आम्बेर (जयपुर) के अधिपति मानसिंह ने वृन्दावन में गोविन्दजी के विशाल प्रस्तर मन्दिर का निर्माण कराया था। जयपुर से लाये हुए लाल पत्थर से निर्मित तथा सुन्दर खुदाई के कार्य से परिपूर्ण उस मन्दिर के भग्नावशेष अब भी उनकी महिमा की घोषणा कर रहे हैं।

इस प्रकार चैतन्यदेव ने पुरी में भक्तों के साथ रहकर, सबको शिक्षा प्रदान करते हुए, अपने प्रेमभक्ति-मार्ग के प्रचारक आचार्यों के रूप में श्री रूप, सनातन, रघुनाथ दास तथा रघुनाथ भट्ट का जीवन गढ़कर, अपने धर्मसंघ की आधारशिला रखी थी। (क्रमशः)

❑

सांसारिक और आध्यात्मिक कर्त्तव्य (१)

स्वामी यतीश्वरानन्द

(स्वामी यतीश्वरानन्दजी महाराज रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष थे। उनका 'Meditation and Spiritual Life' नामक ग्रन्थ साधना-क्षेत्र में पथप्रदर्शन करनेवाली एक अप्रतिम कृति है। उसी के एक अत्यन्त उपयोगी अध्याय का हिन्दी रूपान्तरण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, अनुवादक हैं स्वामी ब्रह्मेशानन्द, जो सम्प्रति रामकृष्ण रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी में कार्यरत हैं। – सं.)

कर्त्तव्य क्या हैं?

हम ऐसे अनेक कार्यों में व्यस्त रहते हैं, जिन्हें हम प्रायः कर्त्तव्य की संज्ञा देते हैं और सामान्यतः ये कार्य केवल दुःख और अशान्ति ही पैदा करते हैं। यदि यह सत्य है, तो फिर कर्त्तव्य के सम्बन्ध में हमारी धारणा में कहीं कोई त्रुटि अवश्य होगी। हम 'कर्म' तो करते हैं, लेकिन सामान्यतः हम उसे योग, साधना तथा आत्म-साक्षात्कार के एक उपाय के रूप में परिणत करना नहीं जानते। आइये जरा देखें कि स्वामी विवेकानन्द ने कर्मयोग के विषय में क्या कहा है :

''कर्मयोग कहता है कि पहले तुम स्वार्थपरता के अंकुर के बढ़ने की इस प्रवृत्ति को नष्ट कर दो। और जब तुममें इसे रोकने की क्षमता आ जाय, तो उसे पकड़े रहो और मन को स्वार्थपरता की वीथियों में मत भटकने दो। तब फिर तुम संसार में जाकर यथाशक्ति कर्म कर सकते हो, सबसे मिलजुल सकते हो, जहाँ चाहे जा सकते हो और तुम्हें कोई भी पाप स्पर्श नहीं कर सकेगा। जैसे पद्मपत्र जल में रहते हुए भी उससे अछूता रहता है, भीगता नहीं, उसी प्रकार तुम भी निर्लिप्त भाव से संसार में रह सकते हो। इसी को वैराग्य कहते हैं; और यह अनासक्ति ही कर्मयोग की नींव भी है।

''मैं पहले ही कह आया हूँ कि अनासक्ति के बिना किसी भी प्रकार की योग-साधना नहीं हो सकती। अनासक्ति ही समस्त साधनाओं की नींव है। जिस मनुष्य ने अपना घर छोड़ दिया है, अच्छे वस्त्र तथा भोजन का परित्याग कर दिया है और मरुस्थल में जाकर रहने लगा है, वह भी सम्भव है कि एक घोर विषयासक्त व्यक्ति सिद्ध हो। उसकी एक मात्र संपत्ति – उसका शरीर ही हो

सकता है उसका सर्वस्व हो जाय और वह उसी के सुख के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहे। बाह्य शरीर के साथ हम जो कुछ भी करते है; उसका अनासक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं, यह तो पूर्णतया मन में होती है। मैं और मेरा रूपी बाँधनेवाली जंजीर मन में ही रहती है। यदि शरीर और इन्द्रियगोचर विषयों के साथ इस जंजीर का सम्बन्ध न रहे, तो हम बिल्कुल अनासक्त रहेंगे। हो सकता है कि एक व्यक्ति राजसिंहासन पर बैठा हो, परन्तु फिर भी बिल्कुल अनासक्त हो, और दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि एक व्यक्ति चिथड़े लपेटे हो, तथापि वह बुरी तरह उन्हीं में आसक्त हो। पहले हमें इस प्रकार की अनासक्ति प्राप्त कर लेनी होगी और तब सतत कार्य करते रहना होगा। कर्मयोग समस्त आसक्तियों से मुक्त होने की सहायक प्रक्रिया सिखा देता है।"

तो फिर कर्त्तव्य का क्या अर्थ है? कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व इन दो शब्दों में से उत्तरदायित्व शब्द से सन्दर्भ-विशेष तथा तात्कालिक बाध्यता का संकेत मिलता है। जैसे कि किसी व्यक्ति पर उसकी वृद्धा विधवा माता के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व होता है। परन्तु 'कर्त्तव्य' शब्द से तात्कालिक परिस्थितियों के कारण उपस्थित बाध्यता का, कर्म पर नैतिक अथवा आचार विषयक प्रभाव का अर्थ ही अधिक ध्वनित होता है। अंग्रेजी के कवि वर्ड्सवर्थ कर्त्तव्य को "ईश्वरीय आदेश की कठोर कन्या" की संज्ञा देते हैं। हम सभी जानते हैं कि कभी कभी किस प्रकार हमें कर्त्तव्य तथा व्यक्तिगत स्वार्थ के परस्पर द्वन्द्व का सामना करना पड़ता है। हम इसे चाहे जो भी संज्ञा क्यों न दें, हम अज्ञानी जीवों के लिए कर्त्तव्य का अर्थ एक हद तक बाध्यता और बन्धन ही है।

ज्ञानी महापुरुषों की बात भिन्न है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में बताते हैं —

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषुलोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।

— मेरे लिए इन तीनों लोकों में कोई कर्तव्य नहीं है; न तो मुझे कुछ प्राप्तव्य है और न ही किसी वस्तु का अभाव है, तथापि मैं कर्मों में लगा रहता हूँ।

ईश्वर के अवतार तथा महापुरुष मुक्ति में प्रतिष्ठित होकर दुःखी मानवता के प्रति प्रेम से अनुप्राणित होकर कर्म करते रहते हैं। दैवी व्यक्तियों में कामनाओं का संघर्ष नहीं होता, अतः कर्त्तव्यों का भी द्वन्द नहीं होता। उनके लिए कार्य

को करने का एक ही मार्ग होता है, और वह है दिव्यमार्ग। अज्ञान के कारण ही हम कर्त्तव्य तथा उसकी पूर्ति के मार्ग के बारे में भ्रमित हो जाते हैं।

कर्त्तव्य और स्वार्थपरता

स्वामी विवेकानन्द कितने मार्मिक ढंग से हमें बताते हैं कि हमारा तथाकथित कर्त्तव्यबोध प्रायः एक रोग बन जाता है : "कर्त्तव्य प्रायः हमारे लिए एक तरह का रोग-सा हो जाता है और सदा हमें उसी दिशा में खींचता रहता है। वह हमें जकड़ लेता है तथा हमारे पूरे जीवन को दुःखमय कर देता है। यह मनुष्य जीवन के लिए महानिभिषिका है। यह कर्त्तव्यबोध ग्रीष्मकाल के मध्याह्न सूर्य के समान है, जो मानव की अन्तरात्मा को झुलसा देती है। कर्त्तव्य के उन बेचारे गुलामों की ओर तो देखो! कर्त्तव्य उन्हें प्रार्थना या स्नान-ध्यान आदि करने का भी अवकाश नहीं देता। कर्त्तव्य उन्हें प्रतिक्षण घेरे रहता है। वे बाहर जाते हैं और काम करते हैं; कर्त्तव्य सदा उनके सिर पर सवार रहता है। वे घर आते हैं और अगले दिन का कार्य सोचने लगते हैं। कर्त्तव्य उन पर सवार ही रहता है। यह तो एक गुलाम की जिन्दगी हुई। फिर एक दिन ऐसा आ जाता है, कि वे एक कसे-कसाये घोड़े की तरह सड़क पर ही गिरकर मर जाते हैं। सामान्यतया इसी को कर्त्तव्य कहते हैं। परन्तु अनासक्त होकर एक स्वाधीन व्यक्ति की तरह कार्य करना तथा समस्त फल भगवान को समर्पित कर देना ही असल में हमारा एक मात्र सच्चा कर्त्तव्य है।"

हम कर्त्तव्य के गुलाम बनकर अपने सारे जीवन को दुःखपूर्ण बना डालते हैं। हमारा कर्त्तव्य क्या है तथा उसे कैसे पूरा करना, इस विषय में हमें और भी स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए। कितनी ही बार हम पाते हैं कि अपनी स्वयं की समस्याओं को सुलझाना सीखने के पहले ही, प्रेम से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि आत्मतुष्टि के लिए हम दूसरों की सहायता करने लगते हैं। दूसरों की सेवा में तत्पर निःस्वार्थ व्यक्ति हैं अवश्य, लेकिन इस विचित्र संसार में, जिसे हमारे एक पुराने संन्यासी ने 'भगवान के विराट् पागलखाने' की संज्ञा दी है, ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जो जीवन में असफलता और हताशा के शिकार हैं, अथवा जो होश के सहज कर्मों को नहीं करना चाहते। ऐसे लोग अपने अंहकार की तुष्टि के

लिए स्वयं को जबरन दूसरों पर थोपने का प्रयास करते हैं। ये अहंकेन्द्रित लोग कहते हैं, "उन्हें मेरी स्नेहजनित सेवा की आवश्यकता है।" हम स्वार्थी मानव कल्पना तक नहीं कर पाते कि हम जितना दूसरों को नहीं चाहते, उतना ही दूसरे भी हमें नहीं चाहते होंगे। एक मनोविद् ने जब यह बात कुछ लड़कियों को बतायी, तो सुनकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि आत्मप्रीति के कारण इस बात को स्वीकार करना कि कोई हमें हृदय से नहीं चाहता, बड़ा कठिन है।

एक अन्य प्रकार के भी अहंकेन्द्रित व्यक्ति होते हैं, जो दूसरों को सुखी करने के लिए आवश्यकता से अधिक चिन्तित रहते हैं और उन्हें ध्यान तथा प्रार्थना के लिए तो समय ही नहीं मिलता। वे क्लबों, संगठनों, भोजों, समारोहों अथवा राजनैतिक दलों में सम्मिलित होकर सदैव जगत् का उद्धार करने के लिए व्यग्र रहा करते हैं। इससे उन्हें कुछ समय के लिए आत्मसम्मान मिलता है, लेकिन जब नवीनता का उद्वेग क्षीण हो जाता है अथवा जब कार्य या गपशप थोड़ी शान्त हो जाती है, तो वे तत्काल दुःखी और असन्तुष्ट नजर आते हैं। मृदु शब्दों को छोड़कर स्वामी विवेकानन्द स्पष्ट शब्दों में कहते हैं : "दासत्व को कर्त्तव्य कहना अथवा देह के प्रति देह की घृणित आसक्ति को कर्त्तव्य कह डालना बहुत सरल है। मनुष्य संसार में धन अथवा अन्य किसी प्रिय वस्तु की प्राप्ति के लिए एँड़ी-चोटी का पसीना एक कर देता है। यदि उससे पूछो, 'ऐसा क्यों कर रहे हो?' तो झट उत्तर देता है, 'यह तो मेरा कर्त्तव्य है।' परन्तु यह धन तथा कुछ प्राप्ति के हेतु निरर्थक लोभ मात्र है, लोग इसे कुछ फूलों से ढँके रखने की चेष्टा करते हैं।" स्वार्थपरता को फूलों से ढँककर, उसे अनासक्त भाव किया हुआ सच्चा कर्त्तव्य-पालन मानकर ही हम उसे अपने आध्यात्मिक जीवन का अभिन्न अंग नहीं बना सकते। अहंकेन्द्रित कर्त्तव्य हमारे लिए कई तरह की समस्याओं तथा नये बन्धनों का निर्माण कर सकता है।

अहंकार के विभिन्न रूप

मानव विभिन्न भावों के विचित्र समूह हैं। विलियम जेम्स के अनुसार अधिकांश लोगों के उतने ही सामाजिक व्यक्तित्व होते हैं, जितने विभिन्न जनसमूहों की राय को वे महत्त्व देते हैं। हमारे दो ही नहीं, अनेक व्यक्तित्व होते हैं।

व्यवसाय में हमारा एक रूप होता है, गिरजे में दूसरा, और घर में तीसरा। अपने व्यक्तिगत जीवन में जो कार्य हम सहर्ष करते हैं; उन्हें समाज की नजरों में करने से हिचकिचाते हैं। हमारे विभिन्न व्यक्तित्व कई बार एक दूसरे से मेल नहीं खाते और इसलिए हमारे मन में असंख्य अन्तर्द्वन्द्वों की सृष्टि करते हैं। एक दुकानदार की कथा है। वह पहले रविवार के दिन भी अपनी दुकान को खुली रखता था, परन्तु बाद में धर्मान्तरित होकर ईसाई बन जाने के उपरान्त उसे हर रविवार को अपने परिवार के साथ धार्मिक पुनार्जागरण की सभा में सम्मिलित होना था। अगले रविवार को जब पड़ोसी के बच्चे ने दूध के लिए दरवाजा खटखटाया, तो दुकानदार की छोटी लड़की ने ऊपर की खिड़की से झाँका और कहा, "तुम जानते नहीं, हम सभी पिछले सप्ताह से इसाई हो गये हैं? अब अगर तुम्हें रविवार के दिन दूध खरीदना हो, तो पीछे के दरवाजे पर आना होगा।"

इस तरह केवल सामान्य लोग ही स्वयं को धोखा नहीं देते। उच्च पदस्थ लोग भी अधिकांशतया दोहरा जीवन जीते हैं। सम्राट् के मतदान में विशेष अधिकार-प्राप्त जर्मनी के कोलोंग नगर के एक राजकुमार, जो मुख्य इसाई धर्माध्यक्ष भी था, के विषय में एक कथा कही जाती है। एक दिन उसने एक किसान के सामने अधार्मिक शब्दों का उपयोग किया, जिसे सुनकर किसान अपने आश्चर्य का संवरण नहीं कर सका। तब स्वयं को न्यायोचित सिद्ध करने के प्रयास में उसने कहा, "भले आदमी, मैंने अपशब्द धर्मगुरु के रूप में नहीं, बल्कि एक राजकुमार के रूप में कहे थे।" इस पर बुद्धिमान किसान बोला, "लेकिन श्रीमान, जब राजकुमार नर्क में जायेगा, तब धर्माध्यक्ष का क्या होगा?"

हम सभी को याद रखना होगा कि यदि हम अपने निजी जीवन तथा सामाजिक जीवन को पृथक रखें और उनके लिए विपरीत नीतियों को अपनायें, तो हमें अशान्ति और दुहरे बन्धन के रूप में बहुत बड़ा जुर्माना देने के लिये बाध्य होना पड़ेगा। सचमुच, इस प्रकार हम अपने जीवन में एक नर्क का निर्माण करते हैं और दुखदायी परिणामों की एक श्रृखंला आरम्भ करते हैं।

वास्तविक कर्त्तव्य की तरह झूठे कर्त्तव्य भी होते हैं। जीवन में यह निश्चित करना सर्वदा आसान नहीं होता कि कौन से कार्य उचित हैं और कौन से

अनुचित। शान्ति काल में किसी की हत्या करना कानून की दृष्टि से अपराध है, लेकिन युद्धकाल में, विशेषकर सेना में भर्ती होने पर अधिक-से-अधिक शत्रुओं को मारना ही सबका कर्त्तव्य हो जाता है। हिन्दू धर्म के अनुसार गोहत्या पाप है; क्योंकि उसे माता का स्थान प्रदान किया गया है; लेकिन एक मुसलमान के लिए विशेष त्योहारों के अवसर पर गाय को काटना पुण्यकर्म है। फिर एक ओर जहाँ हिन्दुओं ने अहिंसा अथवा किसी को कष्ट न पहुँचाना सदा अपना कर्त्तव्य माना है, वहीं काफिरों की हत्या करना मुसलमानों में प्रशंसनीय माना जाता था, और मध्ययुग में ईसाई न्यायाधिकारी अपने धर्मसंघ की रक्षा के लिए विधर्मियों को खूँटे से बँधवाकर जला देना ही अपना कर्त्तव्य समझते थे। इस तरह कई प्रकार के परस्पर-विरोधी कर्त्तव्य हैं। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, ''कर्त्तव्य की कोई वस्तुनिष्ठ परिभाषा कर पाना नितान्त असम्भव है। किन्तु कर्त्तव्य का एक आत्मनिष्ठ पक्ष भी होता है। यदि किसी कर्म द्वारा हम ईश्वर की ओर बढ़ते हैं, तो वह शुभ कर्म है और वह हमारा कर्त्तव्य है, परन्तु जिस कर्म के द्वारा हम अधोगति को प्राप्त होते हैं, वह अशुभ कर्म है और वह कदापि हमारा कर्त्तव्य नहीं हो सकता।

महान हिन्दू दार्शनिक रामानुज के अनुसार जिससे आत्मा का विस्तार हो, वह शुभ और जिससे आत्मा संकुचित हो, वह अशुभ कर्म है।

हिन्दू धर्म में कर्त्तव्य की अवधारणा -- वर्णाश्रम धर्म

हिन्दू धर्म में समाज के चार विभाग किये गये हैं -- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। इनमें से प्रत्येक के कर्त्तव्य स्पष्ट रूप से निर्धारित किये गये है। विकास की अवस्था के अनुसार ब्रह्मचारी या विद्यार्थी, गृहस्थ, सक्रिय जीवन से निवृत्त वानप्रस्थी तथा संसारत्यागी संन्यासी -- इन सभी के विशेष उत्तरदायित्व निर्धारित है। भारतीय संस्कृति में ये सभी जीवन-पद्धतियाँ पृथक एवं स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट थीं, लेकिन आधुनिक काल में पाश्चात्य सामाजिक और राजनैतिक विचारों एवं तकनीक ने इन सभी को बदल दिया है। अब अधिकारों और कर्त्तव्यों के विषय में विभ्रान्ति, अस्पष्टता का आलम है और ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है, जो यह नहीं जानते कि वे किस वर्ग में है, अथवा उन्हें क्या

करना चाहिए। हिन्दूधर्म में प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक धर्म अथवा आचारसंहिता निर्धारित रहती है, जो उसे ईश्वर की ओर ले जायेगी। धर्मजीवन का यह व्यापक, सर्वतोमुखी विधान, मानव के समग्र जीवन का समाज और व्यक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त हो रही गहरे सार्वभौमिक लय के साथ सामंजस्य स्थापित करता है। अनन्त अभिव्यक्तियों के बीच भी आत्मा का एकत्व विद्यमान है।

भगवद्‌गीता तथा अन्य धर्मशास्त्रों का महान उपदेश यह है कि व्यक्ति समाज का अंग होने के साथ ही एक अखण्ड सार्वभौमिक सत्ता का भी अंग है। प्राचीन हिन्दू शास्त्रों में विराट् पुरुष का प्रतीकात्मक वर्णन है, जिसके मुख से पवित्रता-ज्ञान-धर्म व संयम से युक्त ब्राह्मण की, बाँहों से क्षत्रिय की, उदर से वैश्य तथा जाँघों से जीवन निर्वाह की सामग्री तथा अन्न पैदा करनेवाले कृषक और वैश्य की, तथा पाँवों से संसार में कठिन परिश्रम करनेवाले मजदूर की उत्पत्ति हुई है। (ऋग्वेद १०.९०.१२) मानव देह की तरह ही समाज के सभी वर्ग एक पूर्ण के अविभाज्य एवं अनिवार्य अंग हैं। विद्यार्थी एवं गृहस्थ जीवन की परिसमाप्ति पर जीवन से निवृत्त होने का समय आता है, और सम्भवतः उसके बाद समस्त बन्धनों से मुक्त होकर एकान्त में ध्यान कर रहे संन्यासी के जीवन का भी अवसर आता है।

यदि प्रत्येक व्यक्ति जीवन की सभी अवस्थाओं में अन्तर्निहित सार्वभौम विराट् सत्ता के लय के साथ समायुक्त और समरस हो, तो वह न केवल अपना, अपितु अपने आसपास के सभी का कल्याण साधित करेगा। हम सभी का यह परम कर्त्तव्य है। विराट् पुरुष का कई बार अनेक हाथ-पैरों से युक्त पुरुष के रूप में भी चित्रण किया जाता है, जिससे हमें उस परम अद्वितीय की नाना अभिव्यक्तियों का स्मरण हो सके। प्रत्येक व्यक्ति विश्व की इस नाट्यशाला का एक अभिनेता है और उसे अपनी भूमिका अच्छी तरह निभाना सीख लेना चाहिए। हममें से किसी भी दो लोगों की एक समान भूमिका नहीं है।

अमेरिकी स्वाधीनता के घोषणापत्र में कहा गया है, "सभी मानव समान है।" अब हम यह जानते है कि बाह्य जीवन या आन्तरिक बनावट में कोई भी दो व्यक्ति एक समान नहीं है, अतः वे समान कैसे हो सकते है? इसका उत्तर

एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। आध्यात्मिक स्तर पर समानता है, लेकिन अन्य सभी स्तरों पर अनन्त भेद हैं।

महान समाजसेवी तथा विद्वान पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने एक बार श्रीरामकृष्ण से पूछा था, "क्या ईश्वर ने किसी को कम और किसी को अधिक शक्ति दी है?" श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया था, "वे विभु रूप से सभी प्राणियों में हैं — चीटियों तक में हैं, परन्तु शक्ति का तारतम्य होता है। नहीं तो कोई दस आदमियों को हरा देता है और कोई एक ही आदमी से भागता है। और फिर ऐसा न हो, तो भला तुम्हें ही सब लोग क्यों मानते हैं? क्या तुम्हारे दो सींग उगे हैं। औरों की अपेक्षा तुममें अधिक दया है, विद्या है, इसीलिए तो लोग तुमको मानते हैं और देखने आते हैं।"

हिन्दू दृष्टिकोण प्रत्येक मानव को वस्तुस्थिति को पहचानने, अपनी स्वयं की क्षमता को जानने, स्वस्वरूप की सत्ता को खोजने और उसके बाद व्यक्तिगत विकास के विधान या स्वधर्म-पालन की शिक्षा देता है। इससे उसे अपने एवं समाज के प्रति अपने कर्तव्य की स्पष्ट धारणा हो जाती है। एक युवा गृहस्थ ने एक बार श्रीरामकृष्ण के पास आकर कहा कि उसने संसार त्यागकर संन्यासी होने का निश्चय किया है। श्रीरामकृष्ण ने उससे उसके बाल-बच्चों के बारे में पूछताछ की। संन्यास के अभिलाषी ने बताया, "मेरे ससुरालवाले मेरे परिवार का भरण-पोषण कर लेंगे।" श्रीरामकृष्ण ने कहा, "क्या तुममें जरा भी आत्मसम्मान का भाव नहीं?" युवक को डाँटने के बाद उन्होंने उसे कोई रोजगार खोजकर परिवार का भरण-पोषण करने को कहा। प्रत्येक व्यक्ति के लिए, सामान्य जीवन के प्रत्येक स्तर के लिए, एक विशेष धर्म है और यहाँ तक कि दैनन्दिन जीवन के पीछे भी एक ईश्वरीय विधान है। जीवन के कर्तव्यों का सुचारु रूप से पालन करके प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्मिक प्रगति कर सकता है। कर्म अथवा जीवन की अवस्थाओं में ऊँच-नीच का कोई प्रश्न नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को आध्यात्मिक पूर्णता के लिए संघर्ष करना होगा। यही है गीता का मूल सन्देश, जो निम्नलिखित श्लोक में स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है :

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ (१८/४६)

— जिस परमेश्वर से प्राणियों की उत्पत्ति हुई है तथा जिससे समस्त जगत् व्याप्त है, उसकी स्वकर्म से अर्चना करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है।

हमारे समक्ष दो मार्ग हैं — प्रथम है धर्मसम्मत रीति से सांसारिक भोग और समृद्धि का मार्ग। उचित ढंग से नियंत्रित होने पर यह मार्ग स्वाभाविक रूप से दूसरे मार्ग में पर्यवसित हो जाता है, जो ईश्वर-साक्षात्कार और समस्त बन्धनों से मुक्ति का मार्ग है। व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार इनमें से किसी एक को चुन सकता है। अधर्म के मार्ग का हर हालत में त्याग करना चाहिए, जो वासना, असत्य तथा लोभ का मार्ग है। यदि सांसारिक गतिविधियों से भौतिक समृद्धि हो, तो उसे दूसरों में भी बाँटना चाहिए, और उसका सदुपयोग दूसरों तथा स्वयं के आध्यात्मिक कल्याण के लिए करना चाहिए। (क्रमशः)

नारदभक्तिसूत्र में भक्तिदर्शन (१)

स्वामी सत्यरूपानन्द

मनुष्य जीवन का अनुभव यह बताता है कि संसार के भोग और सुख-सुविधाएँ मनुष्य को स्थायी शांति नहीं दे सकतीं। प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह कितना भी सम्पन्न और समृद्ध क्यों न हो, कभी-न-कभी जीवन में ऐसे अभाव का अनुभव करता है, जिसकी पूर्ति सांसारिक उपायों से नहीं की जा सकती। यह अभाव उसके जीवन को अर्थहीन बना देता है। सारी उपलब्धियाँ उसे मूल्यहीन और व्यर्थ प्रतीत होने लगती है। इस व्यर्थता के बोध से मन में ऐसी अशांति का जन्म होता है, जो मनुष्य के मन को भीतर से मथता रहता है। सालता रहता है। यह अशांति अहर्निश बनी रहती है और गीता की इस चेतावनी से हम सब परिचित है – 'अशांतस्य कुतः सुखम्' – अशांत (व्यक्ति) को सुख कहाँ?

इस अशांति एवं तद्जन्य दुख से छूटने का एकमात्र उपाय है – आध्यात्मिक साधना और आध्यात्मिक अनुभूति।

हमारे प्राचीन ऋषियों ने जीवनव्यापी साधनाओं के द्वारा असाधारण परिश्रम कर आध्यात्मिक अनुभूति या उपलब्धि के विभिन्न मार्गों को ढूँढ़ निकाला है तथा उन सभी मार्गों से चलकर उन्होंने यह अनुभव किया कि ये सभी मार्ग एक ही गंतव्य आत्मानुभूति या ईश्वर साक्षात्कार पर ही समाप्त होते हैं।

यद्यपि आध्यात्मिक अनुभूति के सभी मार्ग एक ही गंतव्य पर लें जाते है, तथापि उनमें भी कठिन और सरल मार्ग है। सभी मार्ग सभी के लिये नहीं है। अधिकारी भेद से मार्गों में भेद हो जाता है। उदाहरणार्थ, ज्ञानयोग, राजयोग आदि कठिन मार्ग हैं। साधारण व्यक्ति के लिये इन मार्गों से चलकर गंतव्य पर पहुँचना बहुत कठिन हो जाता है। विशेष अधिकारी व्यक्ति ही इन पर चलकर गंतव्य तक पहुँच पाते है। इन मार्गों पर चलना मानों छूरे की धार पर चलना है, जो सबके लिये संभव नहीं है।

तब जो लोग विशेष अधिकारी नहीं हैं, हमारे समान साधारण व्यक्ति है, क्या उनके लिये कोई मार्ग नहीं है? क्या उन्हें कोई आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं

हो सकती?

ऐसा नहीं है। उनके लिये भी मार्ग है। उन्हें भी आध्यात्मिक अनुभूति हो सकती है। इसी सरल मार्ग का नाम भक्तियोग है। भक्ति आध्यात्मिक जगत का राजमार्ग है, जो सभी के लिये खुला है।

पुण्यभूमि भारतवर्ष में भक्तिमार्ग के अनेक आचार्य हुए हैं। देवर्षि नारद ने तो अपने भक्ति-सूत्र में भक्ति के आचार्यों की एक नामावली ही दे दी है। (ना.भ.सू. ८३)

भक्ति का महान ग्रंथ भगवान वेदव्यास रचित श्रीमद्भागवत है। यह मानों भक्ति का विश्वकोश ही है। यह ग्रंथ कलेवर में बड़ा है तथा कठिन भी है। अतः जन-साधारण के लिये वह दुर्बोध है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये हमारे ऋषियों ने छोटे-छोटे सूत्रग्रंथों की रचना की है। इस समय भक्ति-दर्शन संबंधी पाँच सूत्र-ग्रंथ पाये जाते हैं। (१) नारद भक्तिसूत्र, (२) शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, (३) आङ्गिरस भक्तिसूत्र, (४) भक्ति मीमांसा, (५) भक्तिसूत्र पर हरिहरानन्दकृत टीका[१]।

किसी विषय की सार बातों को जब अल्प शब्दों में असंदिग्ध रूप से कहा जाता है तब उसे सूत्र कहते हैं[२]। भक्ति-दर्शन के उपरोक्त ग्रंथ सूत्र रूप में ही लिखे गये हैं। इन सब सूत्र ग्रंथों में देवर्षि नारद रचित भक्ति-सूत्र सरल तथा सुबोध है। विषय का प्रतिपादन भी इस ग्रंथ में सर्वांगपूर्ण एवं रोचक है। इसीलिये भक्तों में यह ग्रंथ अत्यन्त लोकप्रिय है।

प्रत्येक साधना-पद्धति के दो विशेष भाग होते हैं। (१) दर्शन भाग, (२) व्यावहारिक उपासना भाग। दर्शन उस पद्धति के तत्त्व का प्रतिपादन करता है। वह यह बताता है कि पूजा-उपासना आदि के द्वारा हमें जो तत्त्व प्राप्त होगा, वह क्या है? उपासना-पूजा आदि का तात्पर्य क्या है? दूसरे शब्दों में दर्शन हमें साधना के फल का सम्यक् ज्ञान देता है। दर्शन मानों साधना के फल को हमारे मनस् चक्षु के सामने रख देता है। वैसे दर्शन शब्द का अर्थ भी दिखना या दिखा

---

१. 'भक्ति दर्शनामृत', प्रवचनकार स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती, पृ.२

२. अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम् । अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।।

देना ही होता है -- 'दृश्यते अनेन इति दर्शनः' -- जिसके द्वारा देखा जाए वह दर्शन है।

किसी भी साधना-पद्धति के दर्शन के सम्यक् ज्ञान बिना उसमें सफलता बड़ी कठिनाई से मिलती है तथा सफलता मिलने पर भी वह एकांगी होती है और साधक को प्रायः हठधर्मी बना देती है। उतना ही नहीं, सफलता मिलने पर भी साधना के सम्यक् दर्शन से अनभिज्ञ साधक प्रायः भ्रांतियों और संदेहों से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाता। अतः साधना में समुचित सिद्धि के लिये उस साधना-पद्धति के दर्शन का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है।

साधना-फल का सम्यक् ज्ञान देने के अतिरिक्त दर्शन साधना-पद्धति को भी युक्तियुक्त तथा तर्कपूर्ण ढंग से हमारे सामने रखना है। इससे साधना-प्रणाली मात्र यांत्रिक न होकर सजग, सक्रिय आत्मोन्नति का साधन बन जाती है। अन्यथा साधना-प्रणाली मात्र यांत्रिक आवृत्ति ही हो जाती है जो कि आध्यात्मिक जीवन की एक बहुत बड़ी बाधा है।

भक्ति-सूत्रों में भी साधना का एक दर्शन विधान है।

भक्ति-पथ सहज क्यों?

नारद अपने भक्ति सूत्र में कहते हैं — **त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी ।।८१।।** -- तीनों कालों में भक्ति ही श्रेष्ठ है, भक्ति ही श्रेष्ठ है। भक्ति का संबंध हृदय के भाव या प्रेम से है। प्रेम प्राणी-मात्र के हृदय में जन्मजात होता है। पशु-पक्षी भी अपने शावकों से प्रेम करते दिखते है। किन्तु मनुष्य में प्रेम का विशेष प्रकाश है। मानव हृदय में ही प्रेम ने अपनी परिपक्वता एवं पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त की है।

मनुष्य किसी-न-किसी का भक्त होता है। कोई नाम-यश का भक्त, कोई धन का भक्त, तो कोई रूप-रस का भक्त। इन्द्रियों और विषयों के भक्त तो प्रायः ही देखे जाते हैं। यही भक्ति थोड़ी परिमार्जित होकर देशभक्ति, जातिभक्ति आदि के रूप में प्रगट होती है। इससे यह तो स्पष्ट है कि मनुष्य के हृदय में भक्ति है। किन्तु मौलिक प्रश्न यह है कि हमारी भक्ति की दिशा क्या है? हमारे हृदय का प्रेम किससे है, संसार तथा संसारियों से या परमार्थ तथा ईश्वर से। यदि

हमारा प्रेम संसार से है तो वह वासना है, भक्ति नहीं। ऐसा प्रेम बंधन और जन्म-मरण के चक्र का कारण होता है। किन्तु यदि हमारे हृदय का प्रेम भगवान और परमार्थ के प्रति है तो वह भक्ति है। वह हमारी मुक्ति का हेतु है। यह भक्ति आध्यात्मिक उपलब्धि का सहज सरल उपाय है। त्रिपाद्विभूति-महानारायणोपनिषद् में आचार्य शिष्य से कहते है — **भक्तियोगो निरुपद्रवः। भक्तियोगान्मुक्तिः। भक्त्या विना ब्रह्मज्ञानं कदापि न जायते। तस्मात्त्वमपि सर्वोपायान्परित्यज्य भक्तिमाश्रय। भक्तिनिष्ठो भव। भक्तिनिष्ठो भव। भक्त्या सर्वसिद्धयः सिध्यन्ति। भक्त्याऽसाध्यं न किंचिदस्ति।।** (इस उपनिषद् में आठ अध्याय हैं, किन्तु मंत्रों में संख्या नहीं दी गई है। उपरोक्त मंत्र आठवें अध्याय के लगभग मध्य में है।) — भक्तियोग निरुपद्रव है। भक्तियोग से मुक्ति होती है। भक्ति के बिना ब्रह्मज्ञान कभी नहीं होता। इसलिये तुम भी सभी उपायों को त्यागकर भक्ति का आश्रय लो। भक्तिनिष्ठ होओ! भक्तिनिष्ठ होओ! भक्ति से सभी सिद्धियाँ सिद्ध हो जाती हैं। भक्ति के लिये कुछ भी असाध्य नहीं हैं।

भक्ति के साधक को अपने हृदय के भावों से संघर्ष नहीं करना पड़ता। उसे अपनी भावनाओं का दमन नहीं करना पड़ता। उसे तो अपने भावों की, अपने मन की दिशा भर बदल देनी पड़ती है। दिशा बदलते ही भक्ति अपना कार्य स्वयं करने लगती है एवं भक्त को अनायास ही लक्ष्य पर पहुँचा देती है। देवर्षि नारद ने तो इसे कर्म, ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठ कहा है — **सा तु कर्मज्ञान-योगेभ्योऽप्यधिकतरा** (ना.भ.सू. २५)।

भक्ति-पथ के अधिकारी

ज्ञानयोग, कर्मयोग, राजयोग आदि के लिये तो विशेष अधिकारी होने की आवश्यकता है। साधारण लोगों के लिये इन योगों की साधना कठिन है। किन्तु भक्तियोग सभी के लिये है। कोई भी व्यक्ति चाहे वह किसी जाति का हो, किसी धर्म का हो, स्त्री हो, पुरुष हो, वह भक्ति का अधिकारी है। बस भक्ति-पथ के पथिक के लिये एक ही शर्त है और वह यह कि व्यक्ति भक्ति प्राप्त करने का इच्छुक हो। संसार के बंधन से मुक्त होना चाहता हो। इसीलिये नारदजी ने कहा है — **तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ।।३३।।** (ना.भ.सू.) — इसलिये मुक्ति चाहने

वाले को भक्ति ही ग्रहण करना चाहिये। महर्षि शाण्डिल्य भी अपने भक्ति-सूत्र में कहते हैं – **आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात्सामान्यवत्** ।।७८।। (शा.भ.सू.) – भक्ति में ऊँची जाति से लेकर नीची जाति तक के सभी लोगों का समान रूप से अधिकार है। उपदेश परम्परा से यह सिद्ध है।

भक्ति क्या है?

सभी आचार्यों ने विभिन्न शब्दों में किन्तु एक स्वर से भगवान के प्रति अनुराग को ही भक्ति कहा है। शाण्डिल्य अपने भक्ति-सूत्र में स्पष्ट कहते हैं – **सा परानुरक्तिरीश्वरे** ।।२।। (शा.भ.सू.) – वह (भक्ति) ईश्वर के प्रति परम अनुराग है।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है, ईश्वर के प्रति केवल अनुराग भक्ति नहीं है। मनुष्य का अनुराग कई स्थानों पर एक साथ हो सकता है। वह प्रायः धन, मन, सांसारिक भोगसुख आदि के प्रति एक साथ अनुरक्त रहता है और इसके साथ ही उसका थोड़ा अनुराग ईश्वर के प्रति भी रहता है। वह पूजादि करता है, मंदिर जाता है, भजन-कीर्तन आदि में भाग लेता है। उसका यह अनुराग भक्ति नहीं है। भले ही यह सब भक्ति प्राप्ति के मार्ग में सहायक हो किन्तु यह भक्ति नहीं हैं।

भक्ति है ईश्वर के प्रति परम अनुराग – हृदय में ईश्वर प्रेम के अतिरिक्त और कुछ भी न होना। इस परम प्रेम के हृदय में उदित होते ही भक्त समस्त जगत को ईश्वरमय ही देखता है। अतः उसका प्रेम केवल ईश्वर के प्रति ही रहता है। ऐसी परम अनुरक्ति का नाम ही भक्ति है। देवर्षि नारद भी अपने भक्तिसूत्र में कहते हैं – **सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा** ।।२।। (ना.भ.सू.) – वह भक्ति अपने इष्ट में प्रेमरूपा है।

भक्ति की इस उदार परिभाषा के द्वारा देवर्षि नारद ने भी भक्ति को विश्वजनीन बना दिया। उनके इस सूत्र में अस्मिन शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। अस्मिन् शब्द इदम् (यह) का सप्तमी एक वचन (पुंल्लिंग) है। इसका अर्थ होता है – इसमें। शाण्डिल्य ने तो अपने सूत्र में ईश्वरे (ईश्वर में) कहा। इसमें कुछ लोगों को आपत्ति हो सकती है। ईश्वर के रूप-गुण आदि का आग्रह हो

सकता है। फिर कुछ ऐसे सम्प्रदाय हैं, जो साधारण अर्थ में ईश्वर को नहीं मानते। किन्तु उनकी भी अपने गुरु या इष्ट के प्रति श्रद्धा-भक्ति होती है।

नारदजी ने सनातन हिन्दू धर्म की उदार भावना के अनुसार 'इसमें' (अस्मिन्) परम प्रेम को भक्ति कहा। इसका तात्पर्य यह है कि साधक की जिस आध्यात्मिक तत्त्व में रुचि हो, जिसमें उसकी निष्ठा हो उसके प्रति परम-प्रेम का नाम भक्ति है। इसीलिये भक्ति की यह परिभाषा विश्वजनीन है। सभी धर्मों और सम्प्रदायों के लोग इसे स्वीकार कर सकते हैं।

देवर्षि नारद ने तो एक पग और आगे बढ़कर भक्ति की सार्वजनीनता एवं सार्वभौमिकता को और भी अधिक उदार एवं विशाल बना दिया। उन्होंने दो सूत्र लिखे :—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ।।५१।। **मूकास्वादनवत्** ।।५२।। — प्रेम (भक्ति) का स्वरूप अनिर्वचनीय है। (वह) गूँगे के स्वाद के समान है।

इसका तात्पर्य है कि हम शब्दों द्वारा भक्ति को जितना उदार बताते हैं वह उससे भी अधिक है, क्योंकि शब्द उसे अपनी सीमा में बाँध नहीं सकते। शब्द तो केवल संकेत मात्र है। भक्ति तो गूँगे की मिठाई का स्वाद बताने जैसी है। गूँगा केवल संकेत से उस स्वाद का आभास मात्र ही दे पाता है।

भक्ति का फल

भक्ति के अतिरिक्त अन्य योगादि साधन स्वरूप है। उन लोगों की यथाविधि करने पर, तब कहीं उनका फल प्राप्त होता है। अतः वे साधन सापेक्ष है। किन्तु भक्ति साधन नहीं, साध्यरूपा है। नारद कहते हैं — "**फलरूपत्वात**" ।।२६।। — (भक्ति) फलरूपा है।

अन्याय साधनों में साधक को स्वयं प्रयत्न कर पुरुषार्थ से चित्त को शुद्ध करना पड़ता है। यह बहुत कठिन कार्य है। भक्ति की यह विशेषता है कि ~ स्वयं भक्त के हृदय से कामादि दोषों को दूर कर देती है। भक्त को चित्त शुं. के लिये जी-तोड़ पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। भक्ति का फल अमरत्व है। भक्ति भक्त को अमर कर देती है। नारद लिखते हैं — "**अमृतस्वरूपाय**" ।।२।।

(ना.भू.सू.) – (वह भक्ति) अमृत स्वरूपा है। स्वरूपा का अर्थ है मौलिक स्वभाव। किसी वस्तु की मूल प्रकृति जो कभी नष्ट न हो, परिवर्तित न हो। शक्कर की बनी विभिन्न मिठाइयाँ। उनका रूप भले ही भिन्न-भिन्न हो किन्तु उनका स्वरूप (मिठास) एक ही प्रकार का होता है। मिठास शक्कर का स्वरूप है। उसी प्रकार अमरता भक्ति का स्वरूप है। किसी भी उपाय से उसके संस्पर्श में आते ही उसके अमृतत्त्व का भक्त को अनुभव होने लगता है। भक्ति भक्त को अमर कर देती है। महर्षि शाण्डिल्य भी श्रुति के आधार पर अपने भक्ति-सूत्र में यही प्रतिपादित करते हैं – **तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्** ।।३।। (शा.भ.सू.) – क्योंकि ईश्वर में जिसकी सम्यक् स्थिति है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है – ऐसा श्रुति का उपदेश है।

इसका कारण स्पष्ट करते हुए शाण्डिल्य आगे लिखते हैं – **न क्रिया कृत्यनपेक्षणाज्ज्ञानवत्** ।।७।। (शा.भ.सू.) -- भक्ति क्रियारूप नहीं है, क्योंकि वह भी ज्ञान की भाँति कर्त्ता के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखती।

भक्ति स्वयं प्रकाश है। वह किसी अन्य प्रयत्न, साधना, निमित्त आदि पर निर्भर नहीं करती। अतः वह भी ज्ञान की भाँति अनादि, अनंत और शाश्वत है। अतः उसकी प्राप्ति का फल भी शाश्वत ही होता है। महर्षि शाण्डिल्य लिखते हैं – **अतएव फलानन्त्यम्** ।।८।। (शा.भ.सू.) – इसलिये भक्ति का फल अनन्त है।

अतः इससे यह सिद्ध होता है कि भक्ति का फल सद्यः मुक्ति है। पराभक्ति को प्राप्त भक्त जीवन-मुक्ति का ही सुख भोग करता है।

फलप्राप्ति का सुफल

साधक के मन में यह जिज्ञासा स्वाभाविक होती है कि किसी साधना में सिद्धि होने पर, उसकी फल प्राप्ति होने पर क्या लाभ होगा? क्या उपलब्धि होगी? उपलब्धि का ज्ञान होने पर साधक की साधना के प्रति विशेष रुचि उत्पन्न हो जाती है तथा वह उत्साहपूर्वक साधना में लग जाता है। इसीलिये भक्ति के आचार्यों ने भी भक्ति की प्राप्ति से क्या सुफल होगा, इसका वर्णन सूत्रों में किया है। देवर्षि नारद लिखते हैं – **यल्लब्ध्वा पुमान सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो**

भवति ।।४।। (ना.भ.सू.) — जिसको पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है।

अमर कौन नहीं होना चाहता? संसार में भला मरना कौन चाहता है? परम प्रेम या भक्ति प्राप्त होने पर मनुष्य को भगवान के दर्शन होते हैं। उनका सान्निध्य प्राप्त होता है। वह प्रत्यक्ष अनुभव करता है कि मैं उसी अविनाशी अमृत स्वरूप परमात्मा का ही अंश हूँ, अतः मैं भी अविनाशी हूँ, अमर हूँ। इस प्रकार उसे अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है।

पराभक्ति प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध हो जाता है। यहाँ एक बात विशेष स्मरणीय है कि भक्तों में सिद्धि का तात्पर्य चमत्कार नहीं है। सिद्धि से यह अर्थ नहीं है कि भक्त हवा में उड़ने लगेगा, पानी पर चलने लगेगा। रोगों को दूर कर देगा। सिद्धि का अर्थ ऐसी कोई अलौकिक घटनाएँ नहीं हैं। सिद्धि का तात्पर्य है भक्त का हृदय पूर्णतः वासना रहित हो जाता है। उसमें सांसारिकता की गन्ध भी नहीं रह जाती। उसका हृदय भगवत् प्रेम से लबालब भर जाता है। इस परम-प्रेम के परिणाम स्वरूप उसे इष्ट के दर्शन होते हैं। इष्ट का दर्शन कर वह इष्टमय हो जाता है। भक्ति योग में यही सिद्धि है। यही चरम आध्यात्मिक उपलब्धि है।

भक्ति प्राप्ति के और भी कुछ सुफल देवर्षि नारद ने बताये हैं। इनसे परिचित होने पर भक्त साधक को अपनी साधना में बहुत सहायता मिलती है तथा मन में उत्साह आता है। नारद लिखते हैं — **यत्प्राप्य न क्रिञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते, नोत्साही भवति** ।।५।। — जिसके प्राप्त होने पर मनुष्य किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करता, शोक नहीं करता, द्वेष नहीं करता, आसक्त नहीं होता और न (संसारी विषयों में) उत्साहित होता है।

हमने देखा कि भक्ति प्राप्त होने पर मनुष्य तृप्त हो जाता है और मनुष्य तृप्त तभी होता है जब उसकी सभी इच्छाएँ निवृत्त हो जाती है। अतः इसके मन में कोई वांछा नहीं रह जाती। मनुष्य को शोक इच्छा की पूर्ति नहीं होने से होता है। भक्त के मन में कोई इच्छा ही नहीं होती, अतः उसके पूर्ण न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये भक्त को कोई शोक नहीं होता।

भक्त किसी से द्वेष नहीं करता। पराभक्ति प्राप्त होते ही भक्त का हृदय प्रेम

से परिपूर्ण हो जाता है। वह सबमें अपने इष्ट का ही रूप देखता है। अतः किसी के भी प्रति उसके मन में द्वेष का प्रश्न ही नहीं आता, क्योंकि सभी में उसके इष्ट ही विराजमान हैं और उनके प्रति भक्त के हृदय में केवल प्रेम ही होता है — अतः न द्वेष्टि।

भक्त ईश्वर से भिन्न और किसी भी वस्तु में नहीं रमता अर्थात् आसक्त नहीं होता। सांसारिक विषयों में उसे उत्साह नहीं होता, क्योंकि भक्ति की प्राप्ति के फलम्वरूप उसके मन से विषयासक्ति समाप्त हो चुकी होती है। अतः सांसाररिक विषयों में उसे उत्साह हो नहीं सकता।

आत्मारामो भवति — भक्ति प्राप्ति का यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण लक्षण है। संसार के साधारण लोग अपने आराम के लिये धन, मन, स्त्री, पुत्र, पद आदि पर निर्भर रहते हैं। आराम के लिए उन्हें बाहरी वस्तुओं की आवश्यकता होती है। किन्तु भक्त आराम के लिये कभी भी बाहर की वस्तु पर निर्भर नहीं होता। उसका आराम उसकी अन्तरात्मा में, अपने हृदय में विराजमान परमात्मा में ही होता है, इसलिये भक्त आत्माराम होता है।

भक्ति कामनाशून्य होती है

भक्ति के आचार्यगण हमें बताते हैं कि भक्ति कामनाशून्य होती है। अतः जिस भक्त के हृदय में भक्ति का अविर्भाव हो चुका है, उसका हृदय भी सर्वथा कामनाशून्य है, क्योंकि — **'कामयते इति कामयमाना'** जो कामना करता है, वह कामनावाला होता है। भक्त के हृदय में अपने प्रियतम प्रभु के अतिरिक्त और किसी की भी कामना नहीं होती। अतः वह कामनाशून्य हो जाता है।

देवर्षि नारद ने भक्ति को निरोधरूपा होने के कारण कामनाशून्य कहा है। भक्ति-दर्शन में यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण तत्त्व है तथा इसमें साधना के प्रगल्भ संकेत भरे हुए हैं। नारद तीन सूत्रों में इसका वर्णन करते हैं।

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात ।।७।।
निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ।।८।।
तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च।।९।।

(१) वह (भक्ति) कामनायुक्त नहीं हैं, क्योंकि वह निरोधरूपा है, (२)

लौकिक और वैदिक कर्मों के त्याग को निरोध कहते हैं, (३) उसमें (इष्ट में) अनन्यता तथा उसके प्रतिकूल विषयों में उदासीनता को भी निरोध कहते हैं।

आध्यात्मिक साधना का कोई भी पथ क्यों न हो, उसमें विषय भोगों का, सांसारिकता का त्याग अवश्य ही करना पड़ता है। भक्ति-पथ में भी विषय भोगों का त्याग करना पड़ता है। किन्तु भक्तियोग तथा अन्य योगों की त्याग की प्रक्रिया में बहुत बड़ा अन्तर है तथा त्याग की प्रक्रिया ही जहाँ दूसरे योगों को कठिन बना देती है, वहाँ वह भक्तियोग को सहज सरल बनाती है।

दूसरे सभी योगों को प्रचण्ड पुरुषार्थ द्वारा स्वप्रयत्न से विषय भोगों का, सांसारिक आसक्तियों का त्याग करना पड़ता है। यह पथ बहुत कठिन है। यह मानों शान चढ़ाये हुए छुरे की धार पर चलना है, जिसमें थोड़ी-सी चूक होने पर गिरकर कट जाने का भय बना रहता है। किन्तु भक्तियोग में साधक भगवान पर निर्भर रहकर उनकी शक्ति से, उन्हीं की कृपा से सब कुछ भगवान के प्रति समर्पित कर देता है। यह समर्पण ही भक्त का त्याग है।

निरोध एक पारिभाषिक शब्द है। अतः ८ और ९ सूत्रों में नारदजी ने उसकी परिभाषा दी है। ८ वें सूत्र में कहा कि लौकिक और वैदिक कर्मों के त्याग का नाम निरोध है। स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि इस सूत्र में न्यास का अर्थ त्याग या संन्यास नहीं है — **'न्यासो नाम भगवति समर्पणम्'** — न्यास का अर्थ है — भगवान को समर्पण; अतः लौकिक और वैदिक सभी कर्मों को भगवान के प्रति समर्पित करना निरोध है।

प्रसङ्गानुसार यह व्याख्या समीचीन है। भक्त जो कुछ भी करता है, वह भगवान के लिये ही करता है। उसमें उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। अपनी कोई आकांक्षा नहीं होती। वह जो भी करता है, प्रभुप्रीत्यर्थ ही करता है। इस प्रकार प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म के कारण उसके सभी कर्म आध्यात्मिक साधना बन जाते हैं, इष्ट की पूजा बन जाते हैं और इस प्रकार सांसारिकता का निरोध स्वयमेव हो जाता है।

नवे सूत्र में देवर्षि निरोध की और अधिक व्यापक परिभाषा देते हैं। साधना की दृष्टि से यह परिभाषा व्यावहारिक तथा अणुकरणीय है। वे कहते है — भगवान के प्रति अनन्यता तथा उसके प्रतिकूल विषयों में उदासीनता यह भी

निरोध है।

अनन्यता भक्ति का प्राण है। भक्त को समस्त मन-प्राण पूर्वक अपने इष्ट के प्रति निष्ठा रखनी चाहिये। सती स्त्री जैसे अपने पति के प्रति निष्ठा रखती है — **सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहिं** — स्वप्न में भी सती स्त्री के लिये कोई दूसरा पुरुष नहीं होता। उसी प्रकार भक्त को अपने इष्ट के प्रति एकांतिक निष्ठा रखनी चाहिये।

निरोध का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष है — भक्ति, भगवान और भक्तों के विरोधियों के प्रति उदासीनता। साधना की दृष्टि से यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। भक्त यदि विरोधियों से उलझ जाए, उनसे तर्क-वितर्क करने लगे, तब तो उसका भजन ही छूट जायेगा। कम-से-कम तर्क करने के समय तक तो उसका भजन छूट ही जायेगा। भक्त यदि तर्क-वितर्क में लग गया, तो विजय तो विरोधियों की हो गई, क्योंकि विरोधी तो भक्त का भजन छुड़वाना चाहते थे तथा भक्त के तर्क में लगते ही भजन छूट गया। अतः भक्त को विरोध तथा विरोधियों के प्रति उदासीन ही रहना चाहिए।

इस प्रकार इष्ट के प्रति अनन्यता तथा विरोधियों के प्रति उदासीनता भक्त के हृदय को कामनाशून्य कर देती है। हृदय के कामनाशून्य होते ही उसमें भक्ति माता का आविर्भाव हो जाता है। (क्रमशः)

स्वाधीनता से विकास

स्मरण रखो कि विकास की पहली शर्त है - स्वाधीनता। जिसे तुम बन्धनमुक्त नहीं करोगे, वह कभी आगे नहीं बढ़ सकता। यदि कोई अपने लिए शिक्षक की स्वाधीनता रखते हुए सोचे कि वह दूसरों को उन्नत कर सकता है, उनकी उन्नति में सहायता दे सकता है और उनका पथ प्रदर्शन कर सकता है, तो यह एक निरर्थक विचार है, एक भयानक मिथ्या बात है, जिसने संसार के लाखों मनुष्यों की उन्नति में अड़ंगा डाल रखा है। तोड़ डालो मानव के बन्धन! उन्हें स्वाधीनता के प्रकाश में आने दो। बस, यही विकास की एकमात्र शर्त है।

- स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण और नामसंकीर्तन

स्वामी विदेहात्मानन्द

स्वामी विवेकानन्द ने एक बार अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण के विषय में कहा था कि वे बाहर से भक्त तथा अन्तर्हृदय से ज्ञानी थे। उनके जीवन में सर्वोच्च भक्ति तथा परम ज्ञान का अद्‌भुत तथा अपूर्व समन्वय दीख पड़ता है। उनका चरित्र लोकविश्रुत है, अतः हम उनके जीवन तथा वाणी के केवल उन्हीं अंशों की चर्चा करेंगे, जो हमारे प्रकृति विषय से सम्बद्ध हैं। अपने पास आनेवाले अनगिनत साधकों में से अधिकांश को वे भक्तिमार्ग में ही प्रवृत्त करते हुए नाम-संकीर्तन का उपदेश दिया करते थे। उनके कुछ उपदेश निम्नलिखित हैं —

"कलिकाल में नारदीय भक्ति हैं — सदा उन प्रभु के नाम और गुणों का कीर्तन करना। जिन्हें समय नहीं हैं, उन्हें कम-से-कम शाम को तालियाँ बजाकर एकाग्रचित हो 'श्रीमन्नारायण, नारायण' कहकर उनके नाम का कीर्तन करना चाहिये। अन्य युगों में नाना प्रकार के कठोर साधनयुक्त तप का नियम था, पर इस युग में उनका अनुष्ठान बहुत कठिन है। एक तो जीव की आयु बहुत अल्प है, उसमें भी अनेक बीमारियाँ उसे निर्बल बना देती हैं, वह कठिन तपस्या करे भी तो कैसे करे, अतः नाम-कीर्तन ही उसका कर्त्तव्य है। नाम का गुणगान करने से देह से सब पाप भाग जाते हैं। देहरूपी वृक्ष में पाप-पक्षी हैं, उनके लिये नाम-कीर्तन मानो ताली बजाना है। ताली बजाने से जैसे वृक्ष के ऊपर के सभी पक्षी भाग जाते हैं, वैसे ही उनके नाम-गुण का कीर्तन से सभी पाप भाग जाते हैं। फिर देखो, जैसे मैदान के तालाब का जल धूप से स्वयं ही सूख जाता है, वैसे ही नाम-गुण-कीर्तन से पापरूपी तालाब का जल स्वयं ही सूख जाता है।

"सदा ही उनका नाम-गुण-गान, कीर्तन और प्रार्थना करनी चाहिये। पुराने लोटे को प्रतिदिन माँजना होगा, एक बार माँजने से क्या होगा? भगवान का नाम लेने से देह-मन शुद्ध हो जाते हैं। ईश्वर के नाम पर ऐसा विश्वास होना चाहिए — क्या मैंने ईश्वर का नाम लिया, अब भी मेरा पाप रहेगा? मेरा अब बन्धन क्या है? पाप क्या है?

"चैतन्यदेव ने इस नाम का प्रचार किया था, अतएव अच्छा है। देखो,

चैतन्यदेव कितने बड़े पण्डित थे! वे प्रेम में हँसते, रोते, नाचते, गाते हैं। ... एक बार वे मेड़गाँव के पास से होकर जा रहे थे। उन्होंने सुना कि इस गाँव की मिट्टी से ढोल बनता है। बस, भावावेश में विह्वल हो गये; क्योंकि संकीर्तन के समय ढोल का ही वाद्य होता है।

"जानकर, अनजाने या भ्रम से अथवा और किसी प्रकार से क्यों न हो, भगवान का नाम लेने से उसका फल अवश्य मिलेगा। कोई तेल लगाकर स्नान करने जाय, तो उसका जैसा स्नान होता है, वैसा ही यदि किसी को ढकेलकर पानी में गिरा दिया जाय, तो उसका भी स्नान होता है तथा यदि कोई घर में सोया हो और उसके बदन पर पानी डाल दिया जाय, तो उसका भी वैसा ही स्नान हो जाता है।

"कलिकाल के लिये है — भक्तियोग, नारदीय भक्ति। ईश्वर का नाम-गुणगान और व्याकुल होकर प्रार्थना — 'हे ईश्वर! मुझे ज्ञान दो, भक्ति दो, दर्शन दो! ... भक्ति ही सार है।' भगवान के नाम-गुणों का कीर्तन करते-करते भक्ति प्राप्त होती है। सब काम छोड़कर तुम्हें संध्या के समय उनका नाम लेना चाहिए। अँधेरे में ईश्वर की याद आती है। यह भाव आता है कि अभी तो सब दिख रहा था, किसने ऐसा किया!"

अब उनके जीवन की कुछ ऐसी घटनाएँ प्रस्तुत हैं, जो सजीव रूप में उनकी नाम-संकीर्तन के प्रति अभिरुचि प्रदर्शित करती हैं।

उनकी संकीर्तन-निष्ठा

बाल्यकाल से ही श्रीरामकृष्ण को प्रातः और सायं तालियाँ बजाकर नाम-संकीर्तन करने का अभ्यास था। कभी-कभी वे भावविभोर होकर नृत्य करते हुए, 'हरि बोल हरि बोल', 'हरि गुरु गुरु हरि', 'हरि मेरे प्राण, गोविन्द्र मेरे जीवन', 'मन कृष्ण, प्राण कृष्ण, ज्ञान कृष्ण, ध्यान कृष्ण, बोध कृष्ण, बुद्धि कृष्ण', 'तुम जगत् हो, जगत् तुममें है।', 'मैं यंत्र हूँ, तुम यंत्री हो' आदि का उच्च स्वर से कीर्तन किया करते थे। अद्वैत वेदान्त की साधना कर निर्विकल्प-समाधि की अनुभूति कर लेने के पश्चात् भी वे प्रतिदिन इसी प्रकार नाम-संकीर्तन करते थे। एक दिन तीसरे प्रहर दक्षिणश्वर के पंचवटी नामक स्थान पर वे अपने वेदान्त के आचार्य स्वामी तोतापुरीजी के साथ बैठकर धर्मचर्चा कर रहे थे।

संध्या हो जाने पर श्रीरामकृष्ण ने उनसे वार्तालाप करना बन्द कर दिया और वे ताली बजा-बजाकर संकीर्तन करने लगे। उनके इस आचरण को देखकर श्रीमान तोतापुरी अवाक् होकर सोचने लगे कि ये परमहंस जो वेदान्त-मार्ग के इतने उत्तम अधिकारी हैं, जिस निर्विकल्प-समाधि को पाने में मुझे चालीस वर्ष लगे उसे वे एक दिन में उपलब्ध कर लेनेवाले हैं, तथापि ये इस प्रकार हीन अधिकारियों के समान आचरण क्यों कर रहे हैं! उनसे रहा नहीं गया। वे विनोद करते हुए बोल उठे, "अरे, रोटी क्यों ठोकते हो!" यह सुनकर श्रीरामकृष्णदेव ने भी हँसते हुए कहा, "वाह रे! मैं ईश्वर नाम ले रहा हूँ और आप कह रहे हैं कि रोटी ठोक रहे हो।" पुरीजी भी उनकी बालक-जैसी बात सुनकर हँसने लगे और उन्होंने अनुभव किया कि श्रीरामकृष्ण का यह आचरण निरर्थक नहीं है, उनके भीतर अवश्य ही ऐसा कोई गूढ़ तात्पर्य निहित है, जिसे वे ठीक-ठीक समझ नहीं पा रहे हैं। अतः उन्होंने इस कार्य का प्रतिवाद न करना ही उचित समझा।

चैतन्य महाप्रभु का कीर्तन देखना

एक बार श्रीरामकृष्णदेव के मन में श्री चैतन्य महाप्रभु के सर्वजन-मनोहारी नगर-संकीर्तन देखने की इच्छा हुई। जगन्माता ने उनकी इस इच्छा को पूर्ण करने के लिये उन्हें निम्नलिखित दर्शन कराया था। उस समय वे अपने कमरे के बाहर उत्तर की ओर मुख किये खड़े थे, उन्होंने देखा कि आध्यात्मिक भावों में विभोर एक अपार जनसमूह अद्भुत अलौकिक संकीर्तन करता हुआ तरंग की भाँति बढ़ा चला रहा है। उस दल के आगे आगे चल रहे हैं – भगवत्प्रेम में मतवाले चैतन्य महाप्रभु और उनके दोनों ओर उनके पार्षद नित्यानन्द तथा अद्वैताचार्य भी धीरे-धीरे कदम रखते आगे बढ़ रहे हैं। उनमें से कोई-कोई भक्त प्रेम में उन्मत्त होकर उद्दाम ताण्डव करते हुए अपने हृदय का उल्लास व्यक्त कर रहे हैं। इतने लोगों का समागम हुआ है कि कोई ओर-छोर नहीं दीख पड़ता। यह टोली आगे बढ़ती हुई वृक्षों के पीछे लुप्त होती जा रही थी। एक अन्य समय इस घटना की चर्चा करते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा था कि यह पूरा दर्शन उन्हें भाव-नेत्रों से नहीं, वरन खुली आँखों से हुआ था।

श्याम बाजार में कीर्तनानन्द

१८७५ ई. में जब श्रीरामकृष्ण अन्तिम बार अपनी जन्मभूमि कामारपुकुर

का दर्शन करने गये, तब वहाँ से वे अपने भान्जे हृदयराम के ग्राम शिहड़ भी गये। वहीं पहुँचकर उनके सुनने में आया कि उस स्थान से थोड़ी ही दूर फुलई-श्याम बाजार नामक एक ग्राम है, जहाँ अनेक वैष्णव रहा करते हैं। वे संकीर्तन आदि के द्वारा उस स्थान की आनन्दमय बनाये रखते हैं। श्रीरामकृष्ण भी वहाँ जाकर उस कीर्तन को देखने एवं उसमें भाग लेने को उत्सुक हो उठे। अतः हृदयराम के साथ वहाँ जाकर उन्होंने बेलटे के श्रीयुत नटवर गोस्वामी के घर सात दिन निवास किया तथा श्याम बाजार में वैष्णवों का कीर्तनानन्द भी देखा। श्यामबाजार ग्राम में उन्होंने ज्योंही प्रवेश किया, त्योंही उन्हें चैतन्यदेव का दर्शन मिला, जिससे वे समझ गये कि इस गाँव के निवासी महाप्रभु के भक्त हैं।

एक बार कामारपुकुर के रईस श्री ईशानचन्द्र मल्लिक ने उन्हें अपने घर कीर्तनानन्द में सम्मिलित होने का निमंत्रण दिया था। वहाँ कीर्तन के समय उनका भावावेश देखकर स्थानीय वैष्णवों ने उनके प्रति तीव्र आकर्षण का अनुभव किया। उनकी भावसमाधि की बात विद्युत् वेग से चारों ओर फैल गयी और उनके साथ आनन्द प्राप्त करने के लिये दूर-दूर के गाँवों से संकीर्तन-दल क्रमशः वहाँ जुटने लगे। इस प्रकार श्यामबाजार एक विशाल जनसमुद्र में परिणत हो गया तथा वहाँ दिन-रात संकीर्तन होने लगा। उस सम्पूर्ण अंचल में ऐसी चर्चा फैल गयी कि एक ऐसे भक्त का आगमन हुआ है, जो भजन करते समय सात बार मरकर सातों बार जी उठता है। यह सुनकर श्रीरामकृष्ण को देखने के लिए लोग वृक्षों तथा घर की छतों पर चढ़ने लगे और आहार-निद्रा तक भूल गये। इस प्रकार तीन दिनों तक वहाँ संकीर्तनानन्द की धारा प्रवाहित होती रही। और उन्हें देखने तथा उनका चरणस्पर्श करने के लिये लोग इतने उतावले हो उठे कि उन्हें स्नान तथा भोजन के लिये भी अवकाश न रहा। तदनन्तर वे हृदयराम को साथ लेकर धीरे से शिहड़ को खिसक गये, तब जाकर कहीं आनन्दोत्सव का विराम हुआ। इसी अवधि में एक बार बेलटे में नटवर गोस्वामी के घर एक भोज के अवसर पर उन्हें श्रीकृष्ण और गोपियों का दर्शन मिला। उन्हें लगा कि उनका सूक्ष्म शरीर श्रीकृष्ण के चरणों का अनुसरण किये चला जा रहा है।

पानीहाटी का महोत्सव

कलकत्ते से कुछ मील उत्तर की ओर गंगा तट पर पानीहाटी नाम का एक

ग्राम है। वहाँ पर प्रतिवर्ष ज्येष्ठ मास की शुक्ल त्रयोदशी को वैष्णव सम्प्रदाय का एक विशेष मेला लगा करता है। चैतन्य महाप्रभु के अन्तरंग पार्षद नित्यानन्द एक बार धर्मप्रचार करते हुए वहाँ आये थे। गोस्वामी रघुनाथदास, जो महाप्रभु का आदेश पाकर घर में ही निवास कर रहे थे, उनसे मिलने के लिये आये। तब नित्यानन्द ने रघुनाथदास से कहा था, "अरे, तू घर से केवल भाग-भागकर आता है और हमसे छिपाकर प्रेम का आस्वादन करता रहता है! हमें पता तक नहीं लगने देता। आज मैं तुझे दण्ड दूँगा, तू चिउड़े का महोत्सव कर और भक्तों की सेवा कर।" रघुनाथ ने उस आदेश को सानन्द शिरोधार्य किया तथा नित्यानन्द के दर्शनार्थ आये सैकड़ों लोगों को गंगातट पर भोजन कराकर परितृप्त किया। बाद में जिस दिन वे गृहत्याग करके सदा के लिये महाप्रभु के पास नीलाचल चले गये, उसी दिन उनकी स्मृति में वहाँ के भक्तगण प्रतिवर्ण 'चिउडा-महोत्सव' किया करते हैं। उस दिन वहाँ विविध स्थानों के वैष्णवभक्त एकत्र होते हैं और पूरा दिन भजन, कीर्तन तथा नाम-स्मरण में बीतता है।

श्रीरामकृष्ण प्रारम्भ से ही प्रायः प्रतिवर्ष उक्त उत्सव में भाग लेने जाया करते थे; परन्तु १८८० ई. से अपने जीवन के अन्तिम कुछ वर्ष वे विविध कारणवश वहाँ नियमित रूप से न जा सके। तथापि १८८३ ई. तथा १८८५ ई. में उन्होंने उक्त उत्सव में भाग लिया था।

१८ जून, १८८३ ई. को सोमवार का दिन था। भक्त रामचन्द्र दत्त मास्टर महाशय के साथ कलकत्ते से दक्षिणेश्वर आये। श्रीरामकृष्ण को प्रणाम कर वहीं उत्तरवाले बरामदे में उन्होंने प्रसाद पाया। राम कलकत्ते से जिस गाड़ी में वहाँ आये थे, उसी में बैठकर श्रीरामकृष्ण पानीहाटी को चले। उनके साथ राखाल, मास्टर, राम, भवनाथ तथा और भी दो-एक भक्त चले।

गाड़ी के पानीहाटी के महोत्सव-स्थल पर पहुँचते ही राम आदि भक्त यह देखकर विस्मित रह गये कि श्रीरामकृष्ण, जो अभी-अभी बैठे विनोद कर रहे थे, सहसा अकेले ही उतरकर बड़े वेग से दौड़ रहे हैं। बहुत ढूँढ़ने पर उन लोगों ने पाया कि वे नवद्वीप गोस्वामी के संकीर्तन-दल में नृत्य कर रहे हैं और बीच-बीच में समाधिस्थ भी हो रहे हैं। समाधि की अवस्था में वे कहीं गिर न पड़ें, इसलिये नवद्वीप गोस्वामी उन्हें यत्न से सँभाल रहे हैं। संकीर्तन के समय श्रीरामकृष्ण का

दर्शन करने के लिए लोग चारों ओर कतार बाँधकर खड़े हैं। कोई-कोई सोच रहे हैं कि क्या श्रीगौराङ्ग ही पुनः प्रकट हुए हैं। चारों ओर हरिध्वनि सागर की तरंगों के समान उमड़ रही है। चारों ओर से लोग उनके चरणों पर फूल चढ़ा रहे हैं और बतासे लुटा रहे हैं तथा एक बार उनका दर्शन पा लेने की धक्का-मुक्की कर रहे हैं। श्रीरामकृष्ण अर्धवाह्य दशा में नृत्य करते हुए फिर बाह्य दशा में आकर गाने लगे, जिसका, भावार्थ यों हैं -- "हरि का नाम लेते ही जिनकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है, वे दोनों भाई आये हैं, जो स्वयं नाचकर जगत को नचाते हैं, वे दोनों भाई आये हैं, जो स्वयं रोकर जगत को रुलाते हैं और जो मार खाकर भी प्रेम की याचना करते हैं, वे दोनों भाई आये हैं।" श्रीरामकृष्ण के साथ साथ सभी उन्मत्त हो नाच रहे हैं और अनुभव कर रहे हैं कि गौराङ्ग और निताई हमारे सामने नाच रहे हैं।" श्रीरामकृष्ण फिर निम्नलिखित भाव का भजन गाने लगे -- "गौराङ्ग के प्रेम की हिलोरों से नवद्वीप डावाँडोल हो रहा है।" आदि आदि।

संकीर्तन की तरंग राघव के मन्दिर की ओर बढ़ रही है। वहाँ परिक्रमा और नृत्य आदि करने के बाद श्रीविग्रह को प्रणाम कर वह तरंगायित जनसंघ गंगातट पर स्थित श्री राधाकृष्ण के मन्दिर की ओर बढ़ रहा है। संकीर्तनकारों में से कुछ ही लोग श्रीराधाकृष्ण के मन्दिर में घुस पाये हैं। अधिकांश लोग दरवाजे से ही एक-दूसरे को ढकेलते हुए झाँक रहे हैं।

श्रीरामकृष्ण राधाकृष्ण-मन्दिर के आँगन में पुनः नृत्य कर रहे हैं। वे बीच-बीच में समाधिस्थ भी हो रहे हैं और चारों ओर से फूल-बतासे उनके चरणों पर पड़ रहे हैं। आँगन के भीतर बार-बार हरिध्वनि हो रही है। वही ध्वनि सड़क पर आते ही हजारों कण्ठों से उच्चरित होने लगी। गंगातट पर नावों से आने-जानेवाले लोग चकित होकर इस सागर-गर्जन के समान उठती हुई ध्वनि को सुनने लगे और वे स्वयं भी 'हरिबोल', 'हरिबोल' कहने लगे।

श्रीरामकृष्ण के उपदेश तथा उनके जीवन की उपरोक्त घटनाएँ आधुनिक युग के त्रितापदग्ध प्राणियों को भगवन्नाम-संकीर्तन के द्वारा अपने जीवन तथा समाज में सुख-शान्ति का लाने का सुगम पथ दिखाती हैं।

□

पुरुषार्थ ही गीता का सन्देश है

श्रीमती सावित्री झा

कुरुक्षेत्र की रणभूमि है। दोनों ओर कौरवों तथा पाण्डवों की सेनाएँ आमने-सामने डटी हैं। युद्ध का शंखनाद हो चुका है। अर्जुन अपने सखा व सारथी श्रीकृष्ण से कहते हैं, "हे अच्युत, दोनों सेनाओं के बीच रथ को खड़ा करो। मैं जरा कौरवों की सेना का निरीक्षण कर लूँ। देख लूँ कि किस किस के साथ मुझे युद्ध करना है।" बड़ी विचित्र बात है, यह क्या सूझा अर्जुन को! क्या उन्हें पहले से नहीं मालूम था कि युद्ध में कौन कौन भाग ले रहा है? यहाँ तक तो फिर भी ठीक था, फिर हाथ से गाण्डीव सरकना, शरीर में दाह होना, पसीना निकल आना आदि क्या है? सहसा इतना मोह अर्जुन के मन में कैसे आ गया?

अज्ञातवास के समय जब उन्हें युद्ध करना पड़ा था, तब तो उनकी ऐसी मन:स्थिति नहीं थी। फिर क्यों उन्हें सहसा मोह, भ्रम, भीरुता तथा नैराश्य ने आ घेरा? यहाँ तक कि श्रीकृष्ण को भी उनकी कठोर भर्त्सना करनी पड़ी और यह कहकर उन्हें कर्तव्यबोध कराना पड़ा, **क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ** — हे पार्थ, तुम नपुंसकता को मत प्राप्त होओ।" योगेश्वर श्रीकृष्ण के प्रिय सखा व शिष्य महापराक्रमी अर्जुन मानसिक दुर्बलता, अज्ञान, खेद व मोह से ग्रस्त हो गये, इसका क्या कारण है?

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पाण्डवों के जीवनवृत्त पर विचार करें, तो इसे समझना कठिन नहीं है। बचपन में ही वे पिता को खो बैठते है; ऐसे चाचा धृतराष्ट्र के संरक्षण में पलते हैं, जो न केवल आँखों से अन्धे हैं, बल्कि अपने पुत्रों एवं साम्राज्य के लिए मोहान्ध भी हैं; फिर वे दुर्योधन जैसे दुष्ट प्रवृत्तिवाले चचेरे भाइयों के साथ एक ही आचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करते हैं, जहाँ वे पग पग पर छले और अपमानित किये जाते है। उनके महापराक्रमी परमप्रिय पितामह भीष्म, धनुर्विद्या की शिक्षा देकर उन्हें निपुण बनानेवाले आचार्य द्रोण और परमभक्त महात्मा विदुर – इनमें से कोई भी उन्हें न्याय न दिला सके। तथापि

युद्धक्षेत्र में उतरने के बाद अपने इन्हीं गुरुजनों तथा सम्बन्धियों के प्रति अर्जुन के मन में ममत्व क्यों उमड़ पड़ा?

यह न तो मोह-ममता थी और न ही भीरुता। अर्जुन के मन में परिस्थितिजन्य नैराश्य या वैराग्य का भाव जाग उठा था और इसी कारण उनके मुख से निकल "हे गोविन्द, हम राज्य लेकर क्या करेंगे और भोग पाकर या जीवित रहकर भी क्या लाभ?

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जीवनपर्यन्त पुरुषार्थ करके भी जिसे उत्कर्ष न मिले, जीत भी हार में परिणत हो जाय, सब कुछ पाकर भी खोना पड़े और विश्वास के बदले छल-कपट मिले, तो क्या आदमी हताश और किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं होगा?

अर्जुन महान शूरवीर थे, साहसी थे, अस्त्र-शस्त्र में पारंगत थे और एक अद्वितीय योद्धा भी थे। साथ ही अतुलित बलधाम, परम राजनीतिज्ञ अजेय व अप्रतिम भगवान श्रीकृष्ण उनके मित्र एवं सारथी बने थे। फिर भी युद्धक्षेत्र में अर्जुन ने एक सामान्य मानव का सा ही आचरण किया। जब जन्मजात प्रवृत्तियाँ मनुष्य को आक्रान्त कर लेती हैं, तो वह कुछ समझ नहीं पाता, लाचार हो जाता है। इसी कारण जीवन भर संघर्ष करते रहने के बाद भी जब अर्जुन को कुछ हाथ नहीं आया, तो युद्ध की घोषणा होते ही एक तरह की दीनता व दुर्बलता ने उनके चित्त पर अधिकार कर लिया। ऐसी परिस्थिति में यदि वे अपने मन का द्वन्द्व छिपाकर युद्ध में जुट जाते तो उन्हें सफलता नहीं मिलती। और फिर अपने प्रिय सखा के समक्ष मन का भाव व्यक्त करने में संकोच भी कैसा!

मनुष्य जब एक बार दुर्बल वृत्तियों के अधीन हो जाता है, तो वह अपने कर्तव्य के निर्धारण में सक्षम नहीं रह जाता। क्लीवता आ जाती है और मस्तिष्क भ्रमित हो जाता है। यहाँ तक कि वह सब कुछ विपरीत ही सोचने लगता है और अपने नैराश्य को अनजाने ही वैराग्य के आवरण से ढँकने का प्रयास करने लगता है।

अर्जुन की यही मनोदशा देखकर श्रीकृष्ण कठोर शब्दों में अर्जुन को झकझोर देते हैं। वे कहते हैं, "क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ — हे पार्थ, नपुंसकता को प्रश्रय

न दो।" और फिर सिंह गर्जना के साथ उनकी दुर्बलता पर प्रहार करते हुए वे कहते हैं, "अशोचनीय विषय पर तो तुम शोक करते हो और बातें करते हो पण्डितों जैसी। यह तुम्हारा कैसा ज्ञान है, कैसी विद्वत्ता है!

परन्तु निरुत्साह से ग्रस्त अर्जुन का इतने से ही समाधान नहीं होता। उन्हें लगता है कि जब इतना लम्बा जीवन ऐसे ही पार हो गया, तो अब स्वजनों को मारकर भला सुख कैसे प्राप्त हो सकता है! वे कहते हैं, "केवल धरती के लिए ही क्यों, तीनों लोकों के राज्य के लिए भी मुझे युद्ध करने की इच्छा नहीं होती।" आपात दृष्टि से यह वैराग्य-भावना बड़ी उत्तम तथा सार्थक प्रतीत होती है। जिन स्वजनों के लिए राज्य की आकांक्षा थी, सुख की आकांक्षा थी, वे ही तो अपने प्राण का मोह त्यागकर मैदान में उपस्थित थे। फिर ऐसे युद्ध में विजय की भला क्या सार्थकता थी!

कभी कभी एक स्थायी भाव दूसरे भाव को इस हद तक प्रबल बना देता है कि मनुष्य उसी के अधीन हो कर्म कर बैठता है। उसकी बुद्धि तमसाच्छन्न हो जाती है और अपनी गल्ती का आभास उसे तब होता है जब परिणाम सामने आता है। उदाहरणार्थ वाल्मीकी मुनि के समक्ष जब एक व्याध मिथुनरत क्रौंच पक्षी पर प्रहार करता है, तो उनके मन में क्रौंची का विलाप सुनकर करुणा व क्रोध का युगपत् भाव उत्पन्न होता है और वे व्याध को श्राप देते हुए कहते हैं, "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः — हे निषाद, तुझे नित्य-निरन्तर कभी शान्ति न मिले।" फिर विचार करने पर उन्हें पश्चाताप होता है कि उनके मुख से ऐसी वाणी कैसे निकल पड़ी! अर्जुन के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ प्रतीत होता है। उनकी जीवन भर की हताशा, पीड़ा व सन्ताप इस मोहजनित प्रच्छन्न वैराग्य में परिणत हो जाती है। ऐसी मनःस्थिति में वे अपने कर्तव्यपथ से भटक जाते हैं। और आखिरकार वे अपनी सारी दुविधा तथा अनिश्चितता को अपने सच्चे हितैषी तथा पथप्रदर्शक श्रीकृष्ण के सम्मुख रखते हुए कहते हैं मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हुआ तुमसे पूछ रहा हूँ, बताओ मेरे लिए निश्चित रूप से श्रेयस्कर क्या है? "मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, शरण में आया हूँ, मुझे उपदेश दो।"

इसके उपरान्त श्रीकृष्ण के गुरुमुख से अजस्र धाराओं में गीतामृत प्रवाहित

होने लगती है और इससे न केवल अर्जुन को ही दिशा मिल गयी, बल्कि उसके बाद से जिस किसी ने भी इसकी शरण ली, यह उसी की मार्गदर्शिका बनती चली आ रही है।

सच्चे गुरु कुम्हार की भाँति होते हैं, मिट्टी के बर्तन को सुन्दर आकार देने के लिए वे उस पर प्रहार तो करते हैं, परन्तु नीचे हाथ लगाकर सहारा भी देते हैं कि कहीं घड़ा टूट न जाय। तुलसीदास जी के शब्दों में — **सांसति करि पुनि करहि पसाउ। नाथ प्रभुन कर इअहिं स्वभाउ।।** और तभी वह मिट्टी का बरतन सुन्दर हो उठता है, दर्शनीय हो उठता है।

श्रीकृष्ण में हमें एक ऐसे ही महान गुरु के दर्शन होते हैं। उन्हें भी शायद कभी आशा न रही होगी कि अर्जुन में कभी ऐसी दुर्बलता आ सकती है और वे आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं, "इस विषम अवसर पर तुम्हारे मन में ऐसा मोह क्यों कर उत्पन्न हुआ। स्वर्ग तथा कीर्ति में बाधक ऐसा अनार्यों जैसा आचरण तुम्हारे जैसे वीर को शोभा नहीं देता।" इस प्रकार अर्जुन को अपने कथन पर पुनर्विचार करने को बाध्य करने के पश्चात् श्रीकृष्ण अपनी अद्भुत अभिव्यंजना शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण विश्व तथा इसके प्राणियों की नश्वरता का बोध कराते हुए कहते है, "**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः** — जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु भी अपरिहार्य है।" और वे युद्ध से विमुख होने पर जिस अपकीर्ति की सम्भावना है, उसका भय भी दिखाते हुए कहते हैं कि वह मृत्यु से भी बढ़कर दुखदायी है।

आखिरकार वे अर्जुन को समझा देते हैं कि सफलता-असफलता की परवाह किये बिना मनुष्य अपने कर्तव्य के अनुसार अपने अधिकार के लिए संघर्ष करे, तो उसे पाप नहीं लगता, "**हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं जीत्वा वा भोक्ष्यसे महीम्** — युद्ध में खेत हो जाने पर स्वर्ग मिलेगा और विजय होने पर साम्राज्य का भोग करोगे।" इस प्रकार ठोस आश्वासन देकर भगवान उन्हें युद्ध के लिए तैयार कर देते हैं। श्रीकृष्ण के इस आश्वासन के पीछे एक बहुत ही बड़ा व्यावहारिक मनोविज्ञान छिपा है। उन्होंने विजय को सुनिश्चित नहीं बताया, कोई भी ज्ञानी व्यक्ति ऐसा ही करेगा। वे हार-जीत दोनों की ही सम्भावना लेकर चलते हैं और दोनों में ही

अर्जुन को लाभ दिखाते हैं। और इस प्रकार अर्जुन के माध्यम से हानि-लाभ दोनों की सम्भावना से द्वन्द्वग्रस्त सामान्य मानव को कर्तव्यपथ का निर्देश करते हुए कहते हैं, "**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन** — कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, फल में कदापि नहीं।" हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश, सफलता-असफलता की इतनी चिन्ता क्यों? राजा दशरथ जब श्रीराम के राज्याभिषेक की घोषणा कर चुके थे, सारी तैयारियाँ हो चुकी थीं; उस समय उन्हें क्या स्वप्न में भी ऐसा विचार आया होगा कि गद्दी नहीं, राम को तो वनवास तथा स्वयं को मरण प्राप्त होनेवाला है। कहीं उन्हें इस भावी का आभास भी मिल जाता, तो क्या वे श्रीराम के राज्यारोहण की घोषणा करते? कदापि नहीं करते। परन्तु 'हमरे मन कछु और है, कर्ता के कछु और'। अंग्रेजी में भी कहावत है, "Man proposes and God disposes." और हमें बाध्य होकर इस अकाट्य सत्य को स्वीकार करना पड़ता है।

अतः गीता मानवमात्र को निष्काम भाव से कर्म करते रहने का मंत्र देती है। नैराश्य के सागर में डूबते किंकर्तव्यविमूढ़ मनुष्य की जीवन नौका को पार लगाने के लिए यह पतवार बन जाती है। कर्मक्षेत्र ही सम्पूर्ण मानवजाति का आधार है। आवश्यकता है उसके सोये हुए पौरुष को जगाकर, विवेक को क्रियाशील बनाकर कर्म में लगाने की। मनुष्य कभी कभी अर्जुन की भाँति परिस्थितियों से वशीभूत होकर अपना आत्मबल, पौरुष, पराक्रम आदि भुला बैठता है; तभी आवश्यकता पड़ती है श्रीकृष्ण के समान सारथी की, जो अपने उद्बोधन से हमारे ज्ञानदीप को प्रज्ज्वलित कर दे और हम उसके प्रकाश में सदा-सर्वदा अपने गन्तव्य की ओर बढ़ते रहें।

विद्या, बुद्धि, धन, जन, बल, विक्रम जो कुछ प्रकृति हमारे पास एकत्र करती है वह फिर बाँटने के लिए है।

- स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण मिशन के वार्षिक प्रतिवेदन का सार-संक्षेप

रामकृष्ण मिशन की ८६वीं वार्षिक साधारण सभा बेलुड़ मठ में ३१ नवम्बर १६६५ ई० को अपराह्न में ३.३० बजे सम्पन्न हुई।

इस वर्ष के दौरान बेलुड़ मठ में रामकृष्ण संग्रह-मन्दिर का द्वार सर्वसाधारण के लिए उन्मोचित किया गया, जिसमें श्रीरामकृष्ण, माँ सारदादेवी तथा स्वामी विवेकानन्द और श्रीरामकृष्ण के अन्य शिष्यों के जीवन के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी वस्तुओं तथा कलाकृतियों का प्रदर्शन किया गया है। श्रीरामकृष्ण की जन्मभूमि कामारपुकुर में तीर्थयात्रियों के लिए एक यात्री-निवास का भी उद्‌घाटन हुआ। कलकत्ता स्थित हमारे अस्पताल सेवा-प्रतिष्ठान में पूर्णांग सी. टी. स्कैन बिठाया गया। चण्डीगढ़ स्थित शाखा में निःशुल्क चल-चिकित्सालय का भी शुभारम्भ हुआ। हमारे भुवनेश्वर केन्द्र द्वारा परिचालित निःशुल्क विद्यार्थी-निवास के आवासीय भवन का उद्‌घाटन किया गया।

अन्य गतिविधियों की ओर दृष्टिपात करें तो मिशन ने छह राज्यों में वृहत् पैमाने पर राहत एवं पुनर्वास कार्य किये, जिनमें ३.४१ करोड़ रुपये व्यय हुए। इनमें से विशेष रूप से उल्लेखनीय है महाराष्ट्र के लातूर जिले में चलायी गयी पुनर्वास योजना, जिसके अन्तर्गत एक विद्यालय भवन तथा एक समाज-मन्दिर सहित ४२४ भूकम्प-प्रतिरोधी मकानों का निर्माण पूरा किया गया। कल्याण-कार्यों यथा निर्धन छात्रों को छात्रवृत्ति, वृद्ध एवं असहाय लोगों को आर्थिक सहायता इत्यादि में ५ लाख रुपये खर्च हुए।

६ अस्पतालों तथा ८८ चिकित्सा-केन्द्रों द्वारा ४८ लाख से भी अधिक रोगियों की चिकित्सा की गयी एवं इसी कार्य में ११.६० करोड़ रुपये व्यय हुए। इसके अतिरिक्त ६ नेत्र-शिविरों, ८ दन्त-शिविरों, १ श्रवणयंत्र-शिविर, १ रक्तदान शिविर तथा ७ सामान्य चिकित्सा के शिविरों का भी आयोजन, मुख्यतः चिकित्सा-सेवा रहित केन्द्रों द्वारा किया गया, जिनमें लगभग ५४८० रोगियों की चिकित्सा की गयी।

हमारे शिक्षा-संस्थानों ने माध्यमिक से स्नातकोत्तर तक की परीक्षाओं में उत्कृष्ट परिणाम हासिल किये। पश्चिमी बंगाल के हमारे ४८० माध्यमिक विद्यालय के छात्रों ने स्टार (७५ प्रतिशत या उससे अधिक) अंक प्राप्त किये। निम्नलिखित सारणी विभिन्न बोर्डों तथा विश्वविद्यालयों द्वारा १६६४ में आयोजित परिक्षाओं में हमारी शिक्षा-संस्थानों के उत्कृष्ट परिणामों का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराती हैं —

बोर्ड/विश्वविद्यालय	**परीक्षा (१९९४)**	**प्राप्त स्थान**
केन्द्रीय बोर्ड	माध्यमिक	१, ४, ६ (अरुणाचल प्रदेश मेधावी सूची में)
केन्द्रीय बोर्ड	उच्च-माध्यमिक	१ (अ. प्र. आदिवासी सूची में)
मेघालय बोर्ड	माध्यमिक	१, ४ , १० (आदिवासी छात्रों में)
पश्चिम बंगाल बोर्ड	माध्यमिक	५, ६, १२ तथा १४
पश्चिम बंगाल बोर्ड	उच्च माध्यमिक	५ एवं १७
भारतीयार विश्वविद्यालय	बी.पी. एड.	१ से ७ तक
	एम.पी. एड.	१ से ३ तक
कलकत्ता विश्वविद्यालय	बी.एस.सी. (ऑनर्स) रसायन शास्त्र	४
	बी.एस.सी. (ऑनर्स) गणित	१ एवं ३
	बी.एस. सी (ऑनर्स) सांख्यिकी	१
मद्रास विश्वविद्यालय	बी.ए. संस्कृत	२ एवं ५
	बी.ए. दर्शनशास्त्र	२ एवं ३
	एम.ए. संस्कृत	१ एवं २
	एम.ए. दर्शनशास्त्र	१ एवं ३
	एम.एस.सी. वनस्पतिविज्ञान	६
मैसूर विश्वविद्यालय	बी.एड.	१, ३, ४ एवं ५
पश्चिम बंगाल नर्सिंग कौन्सिल	साधारण नर्सिंग	१

छात्रों की कुल संख्या करीब २.०७ लाख थी, जिसमें ८०,००० से भी अधिक छात्राएँ थीं। इसके तहत ३४.७२ करोड़ रुपये खर्च हुए।

४.६६ करोड़ रुपये की लागत पर मिशन ने ग्रामीण एवं आदिवासी विकासों का भी बीड़ा उठाया। सर्वांगणि ग्रामीण विकास योजनाओं में सस्ते घरों के निर्माण योजना भी शामिल है। जिसके अन्तर्गत कामारपुकुर-जयरामबाटी इलाके में गरीब एवं जरूरतमन्द लोगों के लिए १३.५ लाख रुपयों की लागत पर ४५ मकान बनाये गये। यहाँ पर इस बात का विशेष उल्लेख करना उचित होगा कि लोकशिक्षा परिषद्, नरेन्द्रपुर प. बंगाल के कई जिलों तथा कुछ अन्य राज्यों में वृहत पैमाने पर ग्रामीण विकास योजनाओं का परिचालन करता आ रहा है।

स्वामी आत्मस्थानन्द
महासचिव